

द्वितीय खंड

1 भक्ति संबंधी संकल्पनाएँ

1.1 शास्त्रीय संकल्पनाएँ :-

“भक्ति’ शब्द की उत्पत्ति ‘भज्’ धातु से हुई है, जिसका अर्थ ‘भजना’ है।¹ “‘भज्’ धातु का प्रयोग सेवा अर्थ में प्राप्त होता है—‘भज् सेवयाम्’।² जिसका अर्थ है—ईश्वर की सेवा करना। सेवा भक्ति की आधार भूमि है। भक्ति में इंद्रियों का निग्रह अत्यावश्यक है और “यह योग से संभव है।”³ “योग शिचत्तवृत्तिनिरोधः”⁴ भक्ति में चंचल मन बाधक है क्योंकि चंचल मन भक्ति के मार्ग में बहुत सा व्यवधान उपस्थित करता रहता है। यह हमारे अंदर अनेक विकारों को पैदा कर देता है। जिससे मनुष्य सांसारिक चिन्ता—धारा में प्रवाहित रहता है। मनुष्य को भक्तिमार्ग में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। अतः मन को सांसारिक विषयों से मोड़कर भगवान् के चरणों में एकाग्र एवं केन्द्रित करना अत्यावश्यक है। लेकिन चित्त या मन को नियन्त्रित कैसे कर सकते हैं क्योंकि मन तो स्वभाव से ही चंचल है, इसे वश में करना बहुत कठिन है। मन की इसी चंचलता के बारे में श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया है—

“चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम् ।

तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥”⁵

अर्थात् यह मन बड़ा चंचल, प्रमथनशील, दृढ़ और बलवान् है, उसको रोकना मैं वायु को रोकने के समान अत्यन्त कठिन मानता हूँ। वायु की तरह वेगमान् मन को रोकना यानी नियंत्रित करना असम्भव—सा है लेकिन जब तक मन को शांत नहीं किया जाता तब तक भक्ति संभव नहीं है। जब मन एकाग्र होता है तब आराध्य के प्रति समर्पण का भाव उत्पन्न होता है तथा अपने आराध्य की कृपा दृष्टि प्राप्त की जा सकती है। मन की चंचलता को रोकने के लिए श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया है—

“असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।

अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥”⁶

अर्थात् अर्जुन! निस्सन्देह मन चंचल और दुर्निग्रह है, परन्तु कौन्तेय! अभ्यास और वैराग्य से (यह) वश में किया जाता है। इस प्रकार मन की चंचलता को रोकने के लिए दो तत्त्व आवश्यक है— अभ्यास और वैराग्य। वैराग्य भक्त के मन में संसार के प्रति विराग उत्पन्न करता है और भक्त उस स्थिति में संसार से विरक्त हो जाता है। उसकी आसक्ति नष्ट हो जाती है, उसकी कामनाएँ विलुप्त हो जाती हैं और वह वैराग्यजन्य अलौकिक आनंद का आस्वादन करने लगता है, उस आस्वादन को भक्तिरस की संज्ञा दी जाती है। तात्पर्य यह है कि भक्तिरस की अवस्था में भक्त का समस्त लौकिक पदार्थों के प्रति आकर्षण समाप्त हो जाता है। उसकी समस्त आसक्ति प्रभु मात्र एवं उनके सेवादि कर्मों में ही समर्पित हो जाती है। भक्त को केवल अपने आराध्य से ही अनुराग होता है तथा संसार की सभी वस्तुओं से आसक्ति नष्ट हो जाती है। इस प्रकार कह सकते हैं कि वैराग्य से मन को शांत किया जा सकता है तथा शांत मन से ईश्वर की भक्ति संभव है। “भक्तिरस में स्वयं ही इतना अपूर्व आनन्द भरा हुआ है कि उसके आगे मुक्ति का आनन्द भी फीका पड़ जाता है। तब फिर इस आनन्द को सांसारिक कीचड़ से गंदला कर देना बुद्धिमानी नहीं। इसलिये वास्तविक भक्ति वही है जो वैराग्य की नींव पर स्थित हो।”⁷ वैराग्य शब्द का अर्थ है—“वैराग्यम् (विरागस्य भावः—ष्यञ्) 1) सांसारिक वासनाओं व इच्छाओं का अभाव, सांसारिक बंधनों से उदासीनता, विरक्ति—भग० ६/३५, १३/८ 2) असंतुष्टि, अप्रसन्नता, असंतोष—कामं, प्रकृतिवैराग्यं संद्यःशमयितुं क्षमः रघु० १७/५५ 3) अरुचि, नापसन्दगी 4) रंज, शोक, अफसोस।”⁸ “वैराग्य—संज्ञा पुं० (सं०) मन की वह वृत्ति जिसके अनुसार संसार की विषयवासना तुच्छ प्रतीत होती है और लोग संसार की झंझटें छोड़ कर एकांत में रहते और ईश्वर का भजन करते हैं विरक्ति।”⁹ ‘वैराग्य’ से तात्पर्य संसार से राग—हीनता है। वैराग्य भक्त के मन में संसार के प्रति विराग उत्पन्न करता है और भक्त उस स्थिति में संसार से विरक्त हो जाता है। उसकी संसार से आसक्ति नष्ट हो जाती है, उसकी अभिलाषाएँ विलुप्त हो जाती हैं और वह वैराग्य जन्य अलौकिक आनन्द का आस्वादन करने लगता है; उस आस्वादन को भक्ति रस की संज्ञा दी जाती है। भक्ति की प्राप्ति पर चित्त की चंचलता दूर हो जाती है। मन भगवच्चरणों में एकाग्र होकर सांसारिक विषय—वासनाओं से सर्वथा विमुक्त हो जाता है। भक्त केवल अपने

आराध्य में ही आसक्ति रखता है। उसे सांसारिक वस्तुएँ नश्वर लगती हैं। वह भक्ति रस में ही निमग्न रहता है। इसके विपरीत सांसारिक कामनाएँ भक्त के मन में असंतोष उत्पन्न करती हैं और उस स्थिति में भक्त भक्ति-पथ से विचलित हो जाता है। वह कामनाओं के भँवर में पूरी तरह आलोड़ित होने लगता है। उसकी सात्त्विकता नष्ट होने लगती है, उसका विवेक समाप्त हो जाता है और वह विषय रस में लीन हो जाता है। इस प्रकार भक्ति के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा सांसारिक आकर्षण उपस्थित करते हैं। वैराग्य से सांसारिक प्रलोभनों से आसक्ति नष्ट हो जाती है। भक्त सब कुछ ईष्ट देव का समझता है और सब में ईष्ट देव को ही देखता है। अपना सर्वस्व ईश्वर को समर्पित करके भक्त भक्तिरस में आप्लावित रहता है। सांसारिक आसक्ति नष्ट हो जाने के उपरान्त वह केवल आराध्य से प्रेम करता है यही सच्ची भक्ति है और जो मुक्ति से भी बढ़कर है। भक्ति से भक्त स्वयं तर कर दूसरों को तार सकता है और उसी से लोक का वास्तविक कल्याण होता है।

‘भक्ति’ शब्द की व्युत्पत्ति:— (कोशगत अर्थ)—

संस्कृत —हिन्दी कोश के अनुसार— “भक्ति: (स्त्री०) (भज्+क्तिन्) 1) वियोजन, पृथकरण, विभाजन 2) प्रभाग, अंश, हिस्सा 3) उपासना, अनुरक्ति, सेवा, स्वामी भक्ति कु० ७/३७ रघु० २/६३, मुद्रा० १/१५ 4) सम्मान, सेवा, पूजा, श्रद्धा 5) विन्यास, व्यवस्था, रघु० ५/७४ 6) सजावट, अलंकार, श्रृंगार— आबद्धमुक्ताफल भक्तिचित्रे, कु० ७/१०, ६४, रघु० १३/५६, ७५, १५/३० 7) विशेषण/सम—नम्र (वि०) विनम्र अभिवादन करने वाला,—पूर्वम—पूर्वकम् (अव्य०) भक्तिपूर्वक, सम्मानपूर्वक,—भाज,—(वि०) 1) धर्मनिष्ठ, श्रद्धालु 2) दृढ़ अनुराग रखने वाला, निष्ठावान, श्रद्धालु,—मार्गः भक्ति की रीति अर्थात्, परमात्मा की उपासना (शाश्वत शान्ति और मोक्ष प्राप्ति की रीति ‘भक्ति या उपासना’ ही समझी जाती है), —योगः सानुराग निष्ठा, श्रद्धापूर्वक उपासना,—वादः अनुराग का विश्वास।”¹⁰

हिन्दी—शब्दसागर के अनुसार— “भक्ति—संज्ञा स्त्री (सं०) 1 अनेक विभागों में विभक्त करना। बाँटना। 2 भाग/विभाग/3 अंग/अवयव/4 खंड/5 वह विभाग जो रेखा द्वारा किया गया हो/6 विभाग करने वाली रेखा/7 सेवा शुश्रूषा/8 पूजा/अर्चन/9 श्रद्धा/10 विश्वास/11 रचना/12 अनुराग/स्नेह/13 शांडिल्य

के सूत्र भक्ति के अनुसार ईश्वर में अत्यंत अनुराग का होना/14 जैन मतानुसार वह ज्ञान जिसमें निरतिशय आनंद हो और जो सर्वप्रिय, अनन्य, प्रयोजन, विशिष्ट तथा वितृष्णा का उदयकारक हो/15 गौणवृत्ति/16 भंगी/17 उपचार/18 एक वृत्त का नाम जिसके प्रत्येक चरण में तगण, यगण और अंत में गुरु होता है।¹¹

हिन्दी साहित्य कोश के अनुसार— “भक्ति शब्द की उत्पत्ति भज् धातु से हुई है, जिसका अर्थ भजना है।¹²

हिन्दू धर्म कोश के अनुसार— “भक्ति शब्द की व्युत्पत्ति भज् धातु से हुई है, जिसका अर्थ सेवा करना या भजना है अर्थात् श्रद्धा और प्रेम पूर्वक ईष्टदेव के प्रति आसक्ति¹³

पौराणिक कोश के अनुसार— “भक्ति स्त्री० (सं०) निस्स्वार्थ उपासना जिससे आत्मज्ञान होता है तथा व्यक्ति के रज तथा तम गुणों का नाश होता है, हमारे डर भय, माया, मोह आदि निर्मूल होते हैं तथा पापों का क्षय होता है। (भाग० ६.२. १२-२६;५.२८;७.७;६१.१५) विष्णु में एकाग्रचित्त हो ध्यानलीन होने की पाँच विधियाँ हैं— 1) काम, जैसा कि गोपियों ने किया; 2) भय तथा घृणा जैसा कि कंस ने किया था। 3) सम्बंधी जैसे कि वृष्णिगण थे; 4) मित्रता जैसी युधिष्ठिर ने निभायी; 5) भक्ति जैसी नारद ने की थी। पर वेन उपर्युक्त किसी भी वर्ग में न था (भाग० ७.१. २६-३१)। प्रह्लाद के अनुसार भक्ति के नव (९) मार्ग हैं (भाग० ७.५.२३)। स्त्रियों में पुरुषों से अधिक भक्ति होती है (भाग० १०.२३.३८,४१-४३)।¹⁴

मानक हिन्दी कोश के अनुसार— “भक्ति—स्त्री०.(सं. भज्+ क्तिन्) 1) कोई चीज काटकर या और किसी प्रकार कई टुकड़ों या भागों में बाँटने की क्रिया का भाव। विभाजन। 2) उक्त प्रकार से काटे हुए टुकड़े या किये हुए विभाग। 3) अंग। अवयव। 4) खंड। टुकड़ा। 5) कोई ऐसा विभाग जिसकी सीमाएँ रेखाओं के द्वारा अंकित या निश्चित हों। 6) उक्त प्रकार का विभाजन करने वाली रेखा। 7) किसी प्रकार की रचना। 8) भावभंगी। 9) उपचार। 10) किसी के प्रति होने वाली निष्ठा, विष्वास या श्रद्धा। 11) उक्त के फलस्वरूप किसी के प्रति होने वाला अनुराग या स्नेह, अथवा की जाने वाली किसी की सेवा—शुश्रूषा या अर्चन—पूजन। 12) धार्मिक क्षेत्र में, आराध्य, ईश्वर, देवता आदि के प्रति होने वाला वह श्रद्धापूर्ण अनुराग जिसके फलस्वरूप वह सदा उसका अनुयायी रहता और अपने आपको उसका वषवर्ती

मानता है। (डिवोषन) विषय-षांडिल्य के भक्ति-सूत्र में यह सात्विकी, राजसी और तामसी तीन प्रकार की कही गई है। 13) किसी बड़े के प्रति होने वाली पूज्य बुद्धि, श्रद्धा या आदरभाव। 14) जैन मतानुसार वह वमन जिसमें निरतिषय आनंद हो और जो सर्वप्रिय, अनन्य, प्रयोजन विषिष्ट तथा वितृष्णा का उदयकारक हो। 15) साहित्य में ध्वनि, जिसे कुछ लोग गौण और लक्षणागम्य मानते हैं। 16) प्राचीन भारत में कपड़ों की छपाई, रंगाई आदि में बनी हुई कोई विशेष आकृति या अभिप्राय। 17) छंद शास्त्र में एक प्रकार का वृत्त जिसके प्रत्येक चरण में तगण, भगण और अंत में गुरु होता है।¹⁵

लोकभारती प्रामाणिक हिन्दी कोष के अनुसार- "भक्ति- स्त्री.(सं.) 1) अलग-अलग भाग या टुकड़े करना। 2) भाग ,विभाग। 3) विभाग करने वाली रेखा। 4) देवी-देवता या ईश्वर के प्रति होने वाला विशेष प्रेम। 5) किसी बड़े के प्रति होने वाली श्रद्धा या आदरभाव।"¹⁶

संस्कृत-षब्दार्थ-कौस्तुभ के अनुसार- "भक्ति-(स्त्री.){भज्+क्तिन्} भिन्नता, पृथक्ता। बँटवारा,बाँट। विभाग,अंश/विभाग करने वाली रेखा। गौणवृत्ति। उपचार। एक वृत्त का नाम जिसके प्रत्येक चरण में तगण, भगण और अंत में गुरु होता है। अनुराग, श्रद्धा/सम्मान/सेवा/पूजन/-च्छेद- (पुं.) रेखाओं द्वारा की जाने वाली चित्रकारी। विष्णुभक्त के विशेष चिह्न; जैसे तिलक, मुद्रा आदी। पूर्वकम् (अव्य०) भक्ति सहित।-भाज्-(वि०) भक्ति के पात्र।अनुरागवान्।-मार्ग (पुं.) भक्तियोग भक्ति का वह साधन जिसके द्वारा भगवत्प्राप्ति हो।-योग-(पुं.) भक्तिरूप योग, भक्ति के द्वारा भगवान् को पाने की साधना।"¹⁷

ज्ञान षब्द कोष के अनुसार-"भक्ति-स्त्री.(सं.)सेवा,आराधना; ईश्वर या पूज्य व्यक्ति-के प्रति अत्यनुराग; श्रद्धा; विभाग; विभागरेखा।-गम्य-वि. सेवा से प्राप्य (षिव)।-पूर्वक-अ. भक्ति सहित।-प्रवण-वि. भक्ति में लीन।-भाजन-वि. भक्ति के योग्य, श्रद्धेय।-मार्ग-पु. मोक्षप्राप्ति के तीन मार्गों में से एक।-योग-पु. भक्तिरूप योग, भक्ति के द्वारा भगवान् को पाने की साधना।"¹⁸

भारतीय संस्कृति कोष के अनुसार- " भक्ति-श्रद्धा और प्रेमपूर्वक इष्टदेव के प्रति आसक्ति भक्ति कहलाती है। प्राचीन आचार्यों ने इसे कई नाम दिए हैं। पूजा में अनुराग को भक्ति कहा गया है। कथा सुनने में ही अनुराग भी भक्ति है। इस

भक्तिभावना का उदय वैदिककाल में ही हो गया था। ब्राह्मण ग्रंथों के समय यज्ञ आदि की प्रधानता के कारण भक्ति का स्वर कुछ मंद दिखाई देता है, किंतु उपनिषद् काल आते-आते इसे फिर अपना पूर्व महत्त्व प्राप्त हो गया। भक्ति को सर्वाधिक प्रतिष्ठा महाभारत काल में मिली। इस समय कृष्ण विष्णु के अवतार माने गए और ब्रह्म से उनका तादात्म्य हो गया। इस प्रकार सामान्य जन को भक्ति के लिए एक देहधारी विष्णु मिल गए और कृष्ण वासुदेव भक्ति के उदय के पश्चात् इसका नाम भागवत् धर्म पड़ा। भक्ति पर विशाल मात्रा में साहित्य का निर्माण हुआ है। इसमें सबसे प्रसिद्ध ग्रंथ है श्रीमद्भागवत पुराण और भगवत् गीता।¹⁹

नारद भक्तिसूत्र के अनुसार – “भक्ति षब्द ‘भज्’ धातु से ‘क्तिन्’ प्रत्यय लगाकर बनता है। भज् धातु का अर्थ सेवा करना वा अनुशीलन है। परतत्त्व का रुचिकर भावमय और चेष्टामय अनुशीलन ही भक्ति का लक्षण है।”²⁰

रामसरूप षास्त्री के अनुसार— “भक्ति, सं.स्त्री.(सं.)ईश्वर,-1) सेवा-पूजा-अर्चा -उपासना-परायणता 2) नियमः, धार्मिकता, धर्मक्रिया, तपस्(न.) 3) श्रद्धा, निष्ठा 4) परायणता, निरतिः(स्त्री.), अनुरागः, अभिनिवेशः।”²¹

वेंकट षर्मा के मत से – “‘भक्ति’ षब्द भज् धातु से बना है जिसका अर्थ है सेवा करना।”²²

रामनारायण पाण्डेय के अनुसार— “भक्ति षब्द ‘भज् सेवायाम्’ धातु से ‘क्तिन्’ प्रत्यय लगाकर बना है। क्तिन् प्रत्यय वस्तुतः भाव अर्थ में होता है और इस प्रकार वैयाकरण, भजनं भक्तिः मानते हैं परन्तु क्रदन्तीय प्रत्ययर्थ परिवर्तनों के द्वारा उन्होंने भज्यते अनया इति भक्तिः अथवा भजन्ति अनया इति भक्तिः आदि व्युत्पत्तियाँ भी उपस्थित की हैं। कुछ भी हो हर प्रकार से भक्ति का अर्थ सेवा या भजन ही रहता है।”²³ उपर्युक्त कोषों में ‘भक्ति’ षब्द के जो अर्थ दिए गए हैं उनके आधार पर भक्ति-संबंधी निम्नलिखित बिन्दु स्पष्ट होते हैं :-

(क) ‘भक्ति’ सेवायाम् है अर्थात् सेवा भक्ति की आधार भूमि है। सेवा में सर्वप्रथम निश्छल भाव की प्रगाढ़ता अपेक्षित है। साथ ही निश्छल भाव से उस पवित्र प्रगाढ़ सेवा का पूर्ण समर्पण प्रभु के चरणों में होता है। परिवार के प्रति और विभिन्न विषयों के प्रति प्रगाढ़ सेवा सम्भव है परन्तु इसे भक्ति नहीं कहा जाता। वस्तुतः “ऐहिक आसक्तियों से परे भगवत्चरणों में निस्वार्थ भाव एवं निश्छल सेवा की पुद्धानुभूति को

ही भक्ति कहते हैं।²⁴ जब मनुष्य निष्कल भाव से ईश्वर की सेवा करता है तब उसे परम आनन्द की प्राप्ति होती है। वह लौकिक सम्बन्धों को छोड़कर केवल अलौकिक और पूर्ण आनन्द के स्रोत ईश्वर की सेवा में लग जाता है। तथा सर्वतोभावेन ईश्वर के प्रति समर्पित हो जाता है यदि भक्त सर्वतोभावेन भगवान् के प्रति समर्पित हो जाए तो उसकी सांसारिक इच्छाओं की संपूर्ण समाप्ति निश्चित हो जाएगी तथा उसका जीवन आनन्दमय हो जाएगा। भक्ति से भक्त स्वयं तर कर दूसरों को तार सकता है और उसी से लोक का वास्तविक कल्याण होता है।

(ख) 'भक्ति' प्रेम है अर्थात् प्रेम भक्ति का प्राण तत्त्व है। प्रेम बहुत पवित्र वस्तु है। ईश्वर से प्रेम ही भक्ति है। जब मनुष्य को ईश्वर से प्रेम होता है तब उसका अज्ञान जनित अंधकार नष्ट हो जाता है, आत्मा निर्मल हो जाती है और जीव ईश्वरोन्मुख होने लगता है। यही नहीं उस प्रेम के प्रभाव से मनुष्य का अन्तःकरण अत्यन्त निर्मल हो जाता है। प्रेम में सर्वप्रथम निस्वार्थ भाव की प्रगाढ़ता अपेक्षित है। निस्वार्थ भाव से ईश्वर से किया गया प्रेम ही भक्ति है। ईश्वर से प्रेम होने पर वह समस्त प्राणियों के प्रति प्रेमवान् और घृणा-षून्य हो जाता है। वस्तुतः जीव जब तक अज्ञान ग्रस्त रहता है तभी तक वह सांसारिक सुखों की उपलब्धि के निमित्त प्रयास करता है, परन्तु "जब वह ईश्वर के प्रेम में पूर्णतया निमग्न हो जाता है और उस षाष्वत प्रेमानन्द का रसास्वादन करने लगता है तब वह सांसारिक, सुख-समृद्धि की उपलब्धि से उपरत हो जाता है। निस्वार्थ भाव से ईश्वर से किया गया प्रेम ही सच्ची भक्ति है।"²⁵ क्योंकि परमात्मा का प्रेम अपस्वार्थ की पूर्ति का साधन नहीं है। वह तो केवल भक्ति के आनन्द के लिए ईश्वर से प्रेम करता है और यही भक्ति का सर्वस्व है।

(ग) 'भक्ति' अनुरक्ति है अर्थात् ईश्वर में आसक्ति ही भक्ति है। मनुष्य जब जन्म लेकर इस संसार में आता है तब माया के कारण उसे यह संसार सत्य प्रतीत होता है। वह सांसारिक कामनाओं की पूर्ति में लगा रहता है। लेकिन जब उसे भगवद् अनुग्रह से भक्ति प्राप्त होती है तब उसके मायारूपी सब बन्धन टूटने लगते हैं तथा संसार जो उसे सत्य लग रहा था वही उसे मिथ्या प्रतीत होने लगता है। संसार से विरक्ति होने लगती है तथा ईश्वर से निस्वार्थ प्रेम होने लगता है और देखते ही देखते जीवन ईश्वरमय हो जाता है। भक्ति का उदय होने पर केवल ईश्वर में

आसक्ति रहती है। ईश्वर के प्रति जब मन में प्रेम या अनुराग उत्पन्न होता है तो हृदय में भक्ति का प्रवाह पुरु हो जाता है और मनुष्य को ईश्वर की सर्वव्यापकता परिलक्षित होती है। इस प्रकार भक्ति के द्वारा मनुष्य आनंदमय परमात्मा में लीन हो जाता है। आनंद में विलीन हो जाना ही मानव जीवन का चरम उद्देश्य है।

(घ) 'भक्ति' उपासना/पूजा/अर्चन है। ईश्वर की पूजा ही भक्ति है। लेकिन उस भक्ति में निष्कामता अनिवार्य तत्त्व है। क्योंकि कामना से भक्ति कलुषित हो जाती है। निष्काम भाव से की गई पूजा ही भक्ति कहलाती है। 'निष्काम भाव से की गई पूजा मनुष्य को सब कुछ दे देती है यहाँ तक की स्वयं ईश्वर भी भक्त के अधीन हो जाते हैं।'

(च) 'भक्ति' श्रद्धा और विष्वास है। अर्थात् श्रद्धा और विष्वास भी भक्ति की आधारभूमि है। ईश्वर में श्रद्धा और विष्वास ही भक्ति है। "यदि भगवान् की और श्रद्धा और उसके अस्तित्व पर हमें पूर्ण विष्वास है तो श्रृंगार, हास्य, करुणा, अद्भुत आदि रसों के समान कभी न कभी अपनी अनुकूल परिस्थिति में भगवत्प्रेम का रस भी तरंगित हो सकता है।"²⁶ इस प्रकार ईश्वर में पूर्ण विष्वास रखने पर ही भक्ति का उदय होता है। भक्ति के उदय हो जाने पर हृदय में केवल ईश्वर का ही स्मरण रहता है। संसार के प्रति विरक्ति हो जाती है। जब तक भक्ति का उदय नहीं होता तब तक संसार ही संसार रहता है और भक्ति का उदय हो जाने पर हरि ही हरि रह जाते हैं। यही शीतलता और समता की अवस्था है। इस अवस्था में पहुँचकर मनुष्य अपने को तथा लोक को प्रकाशित करता है। यही परमानन्द की अवस्था है।

'भक्ति' की संकल्पना—

नारद ने 'भक्तिसूत्र' में 'भक्ति' का स्वरूप—निर्धारण इस प्रकार किया है—

"सात्वस्मिन् परमप्रेमरूपा ॥२॥ अमृतस्वरूपा च ॥३॥"²⁷

अर्थात् परमेश्वर में परम प्रेमस्वरूप ही भक्ति है जो अमृत स्वरूप भी है। इस प्रकार ईश्वर से परम प्रेम होने पर ही भक्ति का उदय होता है और ईश्वर से प्रेम तभी होगा जब संसार से विरक्ति होगी क्योंकि मनुष्य जब जन्म लेकर इस संसार में आता है तब माया के कारण उसे यह संसार सत्य प्रतीत होता है। वह सांसारिक कामनाओं की पूर्ति में लगा रहता है लेकिन जब उसे भगवद् अनुग्रह से भक्ति प्राप्त होती है तब उसके माया रूपी सब बन्धन टूटने लगते हैं तथा संसार जो उसे सत्य लग रहा

था, वही उसे मिथ्या प्रतीत होने लगता है। संसार से विरक्ति होने लगती है तथा ईश्वर से प्रेम होने लगता है और देखते ही देखते जीवन ईश्वरमय हो जाता है। भक्ति का उदय होने पर केवल ईश्वर में आसक्ति या प्रेम रहता है। इस प्रेम के द्वारा कोई सांसारिक वस्तु की प्राप्ति नहीं हो सकती है क्योंकि विषय-वासना रहते हुए इस प्रेम का उदय ही नहीं होता है। ईश्वर से प्रेम होने पर वह समस्त प्राणियों के प्रति प्रेमवान् और घृणा-षून्य हो जाता है। नारद के अनुसार यह परम प्रेमरूपा भक्ति अमृतरूप है। जिस प्रकार अमृत के सेवन से सम्पूर्ण रोगों का नाश होता है उसी प्रकार भक्ति का उदय होने पर जीव को परमानन्द की प्राप्ति होती है, इस कारण उसको लोक एवं परलोक के किसी सुख-भोग की वासना नहीं रहती है। जीव केवल अपने ईश्वर से प्रेम करता है और आत्माराम हो जाता है। "भक्ति का उदय होने पर जीव की सभी वृत्तियाँ अन्तर्मुखी हो जाती हैं। उस समय प्रकृति का पर्दा अपने आप ही हट जाता है, परमात्मा के प्रकाश से हृदय का घोर अन्धकारमय प्रदेश भी आलोकमय हो जाता है। उस समय दुःखमय संसार सुखमय भासने लगता है, उस समय सब प्रकार के सन्देह और सब प्रकार की वासनाएँ उखड़कर दूर जा पड़ती हैं। उस समय ज्ञान-कर्मादि आवरण इधर-उधर विच्छिन्न और विध्वस्त हो जाते हैं, भक्ति दूरवर्ती परमात्मा को समीपवर्ती कर देती है। वह किसी से न जीते जाने वाले परमात्मा को भक्त के वष में कर देती है। भक्ति का उदय होने पर सभी चेष्टाएँ प्रतिकूलता छोड़कर अनुकूल हो जाती हैं। भक्त का हृदय अपने आप ही शुद्ध हो जाता है।"²⁸ इस प्रकार भक्ति का उदय होने पर मनुष्य को इस संसार की नष्वरता का पता चल जाता है जो सभी दुःखों का कारण है। जिससे उसकी संसार के प्रति आसक्ति नष्ट हो जाती है तथा उसका जीवन ईश्वर के प्रेम से सरोबार हो जाता है। वह ईश्वर के प्रेम को पाकर धन्य हो जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि भक्ति की अवस्था में मनुष्य का समस्त लौकिक पदार्थों के प्रति आकर्षण समाप्त हो जाता है। उसकी समस्त आसक्तियाँ प्रभु में ही समर्पित हो जाती हैं। "प्रेम करते करते प्रेम में ही वह आनन्द आने लगता है कि भक्त के सामने कामना पूर्ति का सवाल ही नहीं उठता। इसलिये सच्चा भक्त केवल भक्ति के आनन्द के लिये भक्ति करता है"²⁹ इस प्रकार भक्ति का उदय होने पर भक्त सर्वतोभावेन ईश्वर के प्रति समर्पित हो जाता है। उसका अपना कुछ भी नहीं रहता, वह सब कुछ ईश्वर का

समझने लगता है। वह ईश्वर के प्रेम में सरोबार रहता है और संसार को अपनी उपस्थिति से आलोकित करता है। “भगवत्-प्रेम न तो इंद्रिय-ग्राह्य है, न मनोगम्य, और न बुद्धिसाध्य। वह अनुमान द्वारा ही आस्वाद्य है। जब इस रस का साक्षात्कार होता है तो अपना कुछ भी नहीं रह जाता। इंद्रियों द्वारा किया हुआ कर्म हो या मन बुद्धि-स्वभाव द्वारा वह समस्त सच्चिदानन्द नारायण में जाकर विमश्रित होता है।”³⁰ अतः भक्ति से भक्त का चित्त भगवान् में स्थिर हो जाता है। वह पूर्णतः ईश्वरमय हो जाता है और उस स्थिति में परम शांति की प्राप्ति होने लगती है।

1.2 लौकिक संकल्पनाएँ –

प्रेम :- भागवत के अनुसार—

“स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे।

अहैतुक्यप्रतिहता ययाऽऽमा सम्प्रसीदति।।”³¹

अर्थात् मनुष्यों के लिए सर्वश्रेष्ठ धर्म वही है, जिससे भगवान् श्रीकृष्ण में भक्ति हो— भक्ति भी ऐसी, जिसमें किसी प्रकार की कामना न हो और जो नित्य—निरन्तर बनी रहे; ऐसी भक्ति से हृदय आनन्दस्वरूप परमात्मा की उपलब्धि करके कृतकृत्य हो जाता है। इस प्रकार भगवान् में हेतु रहित निष्काम, एकनिष्ठ युक्त अनवरत प्रेम का नाम ही भक्ति है। यही पुरुषों का परम धर्म है, इसी से आत्मा प्रसन्न होती है। वस्तुतः जीव जब तक अज्ञान ग्रस्त रहता है, तभी तक वह सांसारिक सुखों की उपलब्धि के निमित्त प्रयास करता रहता है परन्तु जब वह परमेश्वर के प्रेम में पूर्णतया निमग्न हो जाता है और उस शाश्वत प्रेमानन्द का रसास्वादन करने लगता है तब वह सांसारिक, सुख—समृद्धि की उपलब्धि से उपरत हो जाता है। वह परम वैराग्यशील एवं विवेक सम्पन्न बनकर उस चिरन्तन एवं शाश्वत सत्य तथा सार्वभौम सत्ता के ही चिन्तन—मनन में लीन रहता है। ऐसे भक्त को ईश्वर एवं उसकी अविरल भक्ति की प्राप्ति की ही इच्छा रहती है। विष्णुपुराण में प्रह्लाद भी यही इच्छा अपने आराध्य के सामने प्रकट करते हुए कहते हैं—

“नाथ योनिसहस्रेषु येषु येषु व्रजाभ्यहम्।

तेषु तेष्वच्युता भक्तिरच्युतास्तु सदात्वयि।।१८।।

या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी।

त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु।।१९।।”³²

अर्थात् हे नाथ! सहस्रों योनियों में से मैं जिस जिसमें भी जाऊँ उसी-उसी में, हे अच्युत। आपमें मेरी सर्वदा अक्षुण्य भक्ति रहे। अविवेकी पुरुषों की विषयों में जैसी अविचल प्रीति होती है वैसी ही आपका स्मरण करते हुए मेरे हृदय से कभी दूर न हो। इस प्रकार विष्णुपुराण के अनुसार अविवेकी पुरुषों की विषयों में आस्था के समान प्रभु के प्रति अविचल प्रीति ही भक्ति है। भक्त की इच्छा भक्ति है। भक्ति के अतिरिक्त उसे कुछ भी नहीं चाहिए। जीवन का ध्येय भक्ति है। उसने जन्म भक्ति के लिए ही लिया है। उसकी केवल एक ही कामना है कि ईश्वर के प्रति अविचल प्रीति हो। मनुष्य जो प्रेम या अनुराग सांसारिक विषय के पदार्थों में लगाते हैं वहाँ से हटाकर उस सम्पूर्ण प्रेम को इन्द्रियातीत वस्तु परमेश्वर में लगा दें और जब इन्द्रियों के भोग्य पदार्थों पर का वह उत्कट प्रेम भगवान् में लग जाता है तब उसको भक्ति कहा जाता है। भक्त षिरोमणि तुलसीदास अपने काव्य में न केवल ऐसी भक्ति का अंकन करते हैं अपितु स्वयं उसकी स्पृहा भी करते हैं। तुलसीदास विनय- पत्रिका के पद (268) में लिखते हैं कि-

“तुम अपनायो तब जानिहौं, जब मन फिरि परिहै।

जेहि सुभाव बिषयनि लग्यो, तेहि सहज नाथ सौं नेह छाड़ि छल करिहै ॥१॥

सुतकी प्रीति, प्रतीति मीतकी, नृप ज्यों डर डरिहै।

अपनो सो स्वार्थ स्वामिसों, चहुँ बिधि चातक ज्यों एक टेकते नहिं टरिहै ॥२॥

हरषिहै न अति आदरे, निदरे न जरि मरिहै।

हानि-लाभ दुख-सुख सबै समचित हित- अनहित, कलि-कुचालि परिहरिहै ॥३॥

प्रभु - गुन सुनि मन हरषिहै, नीर नयननि ढरिहै।

तुलसिदास भयो रामको बिस्वास , प्रेम लखि आनँद उमगि उर भरिहै ॥४॥³³

अर्थात् जब मेरा मन फिर जायेगा, तभी मैं समझूँगा कि आपने मुझे अपना लिया। जब यह मन, जिस सहज स्वभाव से ही विषयों में लग रहा है, उसी प्रकार कपट छोड़कर आपके साथ प्रेम करेगा। जैसे मेरा वह मन पुत्र से प्रेम करता है, मित्र पर विष्वास करता है और राज भय से डरता है, वैसे ही जब वह अपना सब स्वार्थ केवल स्वामी से ही रखेगा और चारों ओर से चातक की तरह अपनी अनन्य टेक से नहीं टलेगा। अत्यन्त आदर पाने पर जब उसे हर्ष न होगा, निरादर होने पर वह

जल कर न मरेगा और हानि—लाभ , सुख—दुःख, भलाई—बुराई, सबमें चित्त को सम रखेगा और कलिकाल की कुचालों को छोड़ देगा। और जब मेरा मन प्रभु का गुणानुवाद सुनते ही हर्ष में विह्वल हो जायेगा, मेरे नेत्रों से प्रेम के आँसुओं की धारा बहने लगेगी तभी तुलसीदास को यह विश्वास होगा कि वह श्रीरामजी का हो गया। तब उस प्रेम को देखकर हृदय में आनन्द उमड़कर भर जायगा।³⁴ इस प्रकार सच्चा भक्त ईश्वर से सांसारिक ऐश्वर्य—वैभव एवं सुख—समृद्धि की याचना नहीं करता। वह तो केवल भक्ति के आनन्द के लिए ही भक्ति करता है। सांसारिक और क्षणभंगुर वस्तुएँ उसे अपनी ओर आकृष्ट नहीं कर पाती। वह तो केवल ईश्वर एवं उसकी अविरल भक्ति की प्राप्ति की ही इच्छा रखता है। अपने आराध्य के प्रति उसका इतना घनिष्ठ स्नेह होता है कि वह युगान्त तक उसका सान्निध्य प्राप्त करना चाहता है। रसखान भी अपने आराध्य से यही इच्छा रखते हैं कि—

“मानुष हों तो वही रसखानि बसौं ब्रज गोकुल गाँव के ग्वारन।

जो पसु हौं तौ कहा मेरो चरौं नित नंद की धेनु मंझारन।

पाहन हौं तौ वही गिरी को जो धरयौ कर छत्र पुरन्दर—धारन।

जौ खग हौं तौ बसेरो करौं मिलि कालिन्दी कूल कदम्ब की डारन।।³⁵

अर्थात् रसखान की इच्छा है कि यदि मुझे आगामी जन्म में मनुष्य—योनि मिले तो मैं वही मनुष्य बनूँ जिसे ब्रज और गोकुल के ग्वालों के मध्य खेलने का अवसर मिले। यदि पशु—योनि मिले तो उस गाय का जो नंद की गायों के साथ विचरण कर सके यदि पाषाण योनि मिले तो उसी पर्वत की षिला बनूँ जिन्हें कृष्ण ने इन्द्र का गर्व खण्डित करने के लिए अपने हाथ से उठाया था और यदि पक्षी बनूँ तो मुझे यमुना—तट पर उगे हुए कदम्ब वृक्षों पर निवास करने का अवसर मिले।³⁶ इस प्रकार भक्त की इच्छा माया—मोह के सांसारिक बन्धनों से मुक्त होकर केवल अपने आराध्य को प्राप्त करने की होती है। उसे भगवद्प्रेम में इतना आनन्द आता है कि वह सहस्रों योनियों में भी अपने प्रभु की अविचल भक्ति चाहता है, उसे सांसारिक प्रलोभन अपनी ओर आकर्षित नहीं कर सकते क्योंकि भक्ति का उदय होने पर भक्त को संसार की नष्वरता का पता चल जाता है जो दुःखों का कारण है। वह केवल अपने आराध्य से प्रेम करता है और चारों तरफ अपने आराध्य देव को ही देखता है।

उसके अन्तःकरण में सभी के प्रति प्रेम और सद्भाव होते हैं। उसका अन्तःकरण भीतर—बाहर सदा सर्वदा सात्विक प्रसन्नता से ओत—प्रोत रहता है। उसे यह संसार ईश्वरमय भासने लगता है। वह भक्ति को पाकर परम सन्तुष्ट व आनन्दमय हो जाता है तथा स्वयं को व इस संसार को भक्ति के प्रकाश से प्रकाशित करता है। यही भक्ति का सर्वस्व है। इस प्रकार जब मनुष्य को ईश्वर के अतिरिक्त और कुछ पाने की अभिलाषा न हो, वही उत्तम भक्ति है और तभी मनुष्य सुखी होकर आत्म सन्तुष्ट हो सकता है। उत्तम भक्ति का स्वरूप स्पष्ट करते हुए श्रीरूपगोस्वामी ने लिखा है—

“अन्याभिलाषिताषून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृत्तम्।

आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा।।”³⁷

अर्थात् उत्तमा भक्ति वह है जहाँ “जीव की काया, मन, वाणी की सभी वृत्तियाँ साभिप्राय केवल श्रीकृष्ण के निरन्तर अनुकूल रहते हुए, उनका ही अनुशीलन करते हुए, अन्य किसी भी स्तर की अभिलाषा से सर्वथा रहित रहते हुए, उनके निज—सुख—आस्वादन में सहायक होने के लिये प्रेरित हों।”³⁸ इस प्रकार जिस भक्ति में आराध्य के अतिरिक्त किसी अन्य की अभिलाषा न हो, जो ज्ञान तथा कर्म से आवृत्त न हो और जिसमें कृष्ण की अनुकूलता प्राप्त करते हुए उनका चिन्तन—मनन किया जाय, वही भक्ति उत्तम है। सच्ची भक्ति में सकामता अर्थात् सांसारिक कामनाओं की पूर्ति की प्रवृत्ति नहीं पायी जाती है। सच्चा भक्त ईश्वर से सांसारिक ऐश्वर्य—वैभव एवं सुख—समृद्धि की याचना नहीं करता। वह तो केवल भक्ति के आनन्द के लिए ही भक्ति करता है। यही भक्ति का सर्वस्व है। यदि भक्त सर्वतोभावेन भगवान् के प्रति समर्पित हो जाए तो उसकी सांसारिक इच्छाओं की संपूर्ण समाप्ति निश्चित हो जाएगी। भक्ति में सांसारिकता को माया का रूप बताया जाता रहा है। माया जीव को आकृष्ट करती है। यह बात कबीर ने स्पष्ट ही कह दी है—

“संसार ऐसा सुपिन जैसा जीव न सुपिन समान।”³⁹

जो मनुष्य माया के इस पसार को सच्चा समझकर उसमें लिपट जाता है उसे ब्रह्म की प्राप्ति नहीं हो सकती। माया रूपी अज्ञानता में पड़ा हुआ मनुष्य अपनी ही बात सोचता रहता है इसी से वह परमात्मा को नहीं पा सकता। परमात्मा को

पाने के लिए इस माया को त्यागना पड़ता है। परन्तु माया का त्याग कुछ खेल नहीं है। बाहर से वह इतनी मधुर जान पड़ती है कि उसे छोड़ते ही नहीं बनता। अग्यानी व्यक्ति का तो यह माया नाश ही कर देती है।

“मीठी मीठी माया तजी न जाई। अग्यानी पुरिष को भोलि भोलि खाई।।”⁴⁰

लेकिन कबीरदास ने माया से बचने का एक उपाय जो भक्तों को बताया है, वह संसार से विमुख रहना है। जैसे उलटा घड़ा पानी में नहीं डूबता परंतु सीधा घड़ा भरकर डूब जाता है, परंतु संसार से विमुख होकर रहने से माया (अज्ञानता) का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता—

“औंधा घड़ा न जल में डूबे, सूधा सूभर भरिया।

जाकौं यह जग धिन करि चालै, ना प्रसादि निस्तरिया।।”⁴¹

कबीर ने माया का दूसरा नाम अज्ञान बताया है। भक्ति ही से मायाकृत अज्ञान दूर होता है और ज्ञान प्राप्ति के द्वारा अपने पराए का भेद मिटता है—

“उचित चेति च्यंति लै ताहीं। जा ज्यंतत आपा पर नाहीं।।

हरि हिरदै एक ग्यान उपाया। ताथै छूटि गई सबमाया।।”⁴²

माया शब्द की व्युत्पत्ति :-माया— “(मीयते अन्या— मा+य+टाप् बा० नेत्वम्) 1) धोखा, जालसाजी, कपट, धूर्तता, दाँव, युक्ति, चाल, पंच० १/३५६ 2) जादूगरी, अभिचार, जादू—टोना, इंद्रजाल—स्वप्नों नु माया नु मतिभ्रमो नु—श० ६/७ 3) अवास्तविक या मायावी बिंब, कल्पनासृष्टि, मनोलीला, अवास्तविक आभास छाया—मायां मयोद्भाव्य परीक्षितोऽसि रघु० २/६२ प्रायः समास के प्रथम पद के रूप में प्रयुक्त होकर मिथ्या, आभास, छाया अर्थ को प्रकट करता है। उदा.—मायावचनम् ‘मिथ्या शब्द’ मायामृग आदि। 4) राजनैतिक दाँव पेंच, चाल, युक्ति, कूटनीति की चाल। 5) (वेदांत में) अवास्तविकता एक प्रकार की भ्रांति जिसके कारण मनुष्य इस अवास्तविक विश्व को वास्तविक तथा परमात्मा से भिन्न अस्तित्वमान् समझता है 6) (सांख्य में) प्रधान या प्रकृति 7) दुष्टता 8) दया, करुणा 9) बुद्ध की माता का नाम, सम० आचार धोखे से काम करने वाला आत्मक (वि.) मिथ्या, भ्रान्तिमान उपजीविन् (बि.) जालसाजी और कपटपूर्ण जीवन बिताने वाला पंच० जादूगर बाजीगर”⁴³ “माया, संज्ञा, स्त्री, (स.) 1)

लक्ष्मी, 2) दृव्य धन/सम्पत्ति/दौलत उ० (क) माया त्यागे क्या भ्या मान तजा नहिं जाय —कबीर। (ख) बढ माया को दोष यह जो कबहूँ घटि जाय। तौ रहिम मरिबो भलो दुख सहि जियै बलाय।—रहीम 3) अविधा/अज्ञानता/भ्रम 4) छल/कपट/धोखा/चालबाजी 5) सृष्टि की उत्पत्ति का मुख्य कारण। प्रकृति 6) ईश्वर की वह कल्पित शक्ति जो उसकी आज्ञा से सब काम करती हुई मानी गई है। 7) इंद्रजाल/जादू/छलमय रचना/8) इंद्रवज्रा नामक वर्णवृत्त का एक उपभेद। 9) मगण, तगण, यगण, सगण और एक गुरु का एक वर्ण वृत्त 10) मय दानव की कन्या जो विश्रवा को ब्याही थी और जिससे खर दूषण, त्रिशिरा और सूर्पनखा पैदा हुए। 11) देवताओ में से किसी की कोई लीला शक्ति, इच्छा व प्रेरणा 12) कोई आदरणीय स्त्री, 13) बुद्धि /अक्ल 14) दुर्गा का एक नाम 15) बुद्धदेव (गौतम) की माता का नाम”⁴⁴ माया का अर्थ बन्धन है। माया स्वभाव से व्यभिचारिणी है। वह संसार के सभी जीवों को अपने इन्द्रजाल में फँसाए हुए है। इसलिए वह बन्धन रूपा है। बन्धनशिला होने के साथ—साथ वह अज्ञान रूपा भी है। माया इतनी आकर्षणमय है कि छोड़ने का प्रयत्न करने पर भी वह नहीं छुटती है। यह आकर्षणमयी माया भगवान् की भक्ति नहीं करने देती। वह उसमें बड़ी बाधा डालती है ज्यों ही भक्त या जिज्ञासु अपनी साधना में अग्रसर होने लगता है त्यों ही माया भक्त को अनेक प्रकार के प्रलोभन देती है। कबीर के शब्दों में—

“माया के मदि चेति न देख्या, दुबिध्या मांहि एक नहीं पेख्या ॥

भेष अनेक किया बहु कीन्हां, अकल पुरिष एक नहीं चीन्हां ॥

केते एक मूये मरहिगे केते, केतेक मुगध अजहू नहिं चेते ॥

तत मत सब ओषद माया, केवल राम कबीर दिढाया ॥”⁴⁵

संसार के जितने भी संबंध हैं वे सब माया रूप ही हैं। इन सब का परित्याग कर ही कबीर ने राम का आश्रय लिया था। भक्ति में माया भगवान् की एक विलक्षण अनिर्वचनीय शक्ति के रूप में स्वीकृत है। माया रूपी शक्ति के कारण जीव असत्य (सांसारिक आकर्षण) को सत्य (ईश्वर) तथा सत्य को असत्य मानने लग जाता है। भागवत में विलक्षण शक्ति रूपा माया का स्पष्ट विवेचन है—

“ऋतेऽर्थं यत् प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि ।

तद्विद्यादात्मनो मायां यथाऽऽभासो यथा तमः ॥”⁴⁶

अर्थात् वास्तव में न होने पर भी जो कुछ अनिर्वचनीय वस्तु मेरे अतिरिक्त मुझ परमात्मा में दो चन्द्रमाओं की तरह मिथ्या ही प्रतीत हो रही है अथवा विद्यमान होने पर भी आकाश-मण्डल के नक्षत्रों में राहु की भाँति जो मेरी प्रतीति नहीं होती, इसे मेरी माया समझना चाहिए। इस प्रकार मायावश भगवान् की लीला रहस्यपूर्ण प्रतीत होती है। अभाव की अनुभूति का कारण माया का आतंक है। भक्त प्रेम से भगवत् प्राप्ति करने पर सम्पूर्ण अभावों से ऊपर उठ जाता है और आनन्द पाता है। ईश्वर से प्रेम के कारण माया का रहस्यपूर्ण पर्दा उसके हृदय और बुद्धि पर से हट जाता है। माया दो प्रकार की बताई गई है। 1) विद्या माया (योग माया) 2) अविद्या माया। विद्या माया भगवान् से मिलाने वाली होने से वह स्वीकार की जाती है परन्तु अविद्या माया उसमें विघ्न रूप होने से उसके निवारण के लिए साधना का उपदेश किया जाता है। अविद्या माया के कारण "जीव बहिर्मुख होके संसार को सत्य मानता है। सत्य स्वरूप आत्मा और परमात्मा अनुभव में न आने के कारण उसे विस्मृत हो गये हैं। अतः लक्ष्य प्राप्ति का उसका प्रयत्न संसार में आनन्द की खोज के लिए रहता है, आत्मा और परमात्मा की एकता से सच्चिदानन्द की प्राप्ति उसकी कल्पना से परे की वस्तु होने से वह उससे वंचित रहता है।"⁴⁷ इस प्रकार अविद्या माया के कारण आत्मा व परमात्मा का मिलन नहीं हो सकता। मनुष्य अविद्या माया के कारण ही इस संसार को सत्य मान लेता है तथा इसी में आनन्द की खोज करता है। जब यह संसार असत्य (नश्वर) है तो इसके आनन्द भी असत्य हैं। अतः व्यक्ति कुछ समय के लिए सुखी होता है और वापस दुखी हो जाता है। क्योंकि यह संसार नश्वर है इसलिए इसके सुख भी नश्वर हैं। कबीर ने अविद्या माया की खूब बुराई की है। यह संसार जिसे हम असार कहते हैं अविद्या माया की ही कृति है। अविद्या माया का बन्धन इतना प्रबल एवं मोहक है कि इसके बिकारी परिणामों को जानता हुआ भी मन बार-बार इसी में फँसता रहता है। यदि जीवन में किसी पुण्य घटिका के उदय होने पर एक क्षण के लिए मन उससे विरत भी होता है तो तत्क्षण ही कोई न कोई ऐसा जाल मन पर पड़ जाता है कि वह बेचारा विवश होकर उसी और उलझता चला जाता है। इसलिए कबीर उसे अहेरनी के रूप में देखते हैं। उनका विश्वास है कि राम की यह माया शिकार खेलने के लिए ही निकली है—

**“तू माया रघुनाथ की खेलण चली अहैड़े।
चतुर चिकारे चुणि चुणि मारे, न छोड़यां नेड़े।।”⁴⁸**

संत-साहित्य में यह माना गया है कि माया ब्रह्मपासना में बाधक है। यह अपने मोहक रूप द्वारा पहले तो सांसारिक प्राणियों को अपनी ओर आकृष्ट करती है, ओर तत्पश्चात् कोल्हू के बैल की तरह उनसे मनचाहे काम करवाया करती है। “यह माया अज्ञान और अंधकार रूपणी मानी गई है। यह अविद्या रूपणी माया वास्तव में बड़ी बन्धन रूपा है। माया बहुत ही मोहन शीला है। कबीर के शब्दों में वह बहुत मीठी होती है। इसी मिठास के कारण वह अज्ञानी पुरुष को धीरे-धीरे खाती रहती है।”⁴⁹ जीव यदि इस संसार में सुख चाहता है तो उसे आवश्यक है कि वह भगवान् की माया शक्ति को समझ ले। मनुष्य भगवान् की जिस लीला से इस संसार को सत्य मान कर इसमें फँसा रहता है, वह माया है। माया के कारण जीव आवागमन के इंद्रजाल में फँसा हुआ है। यह आवागमन दुख का कारण है। अतः माया स्वभावतः दुख रूपणी हुई। यह आकर्षणमयी माया भगवान् की भक्ति नहीं करने देती। वह उसमें बड़ी बाधा डालती है। भक्ति के द्वारा मनुष्य के सारे बंधन टूट जाते हैं और उस पर माया का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वह आवागमन के बंधन से छुट जाता है। “भगवान् की जिस लीला से जीवों पर बन्धन पड़ते हैं उसका नाम है माया और जिस लीला से वे बन्धन खुल जाते हैं उसका नाम है भक्ति।”⁵⁰ संसार का यह दुख मायाकृत है परन्तु जो लोग माया में लिपटे रहते हैं, वे इस दुख में पड़े हुए भी उसे समझ नहीं सकते। इस दुख का ज्ञान उन्हीं को हो सकता है जिन्होंने मायात्मक अज्ञानावरण हटा दिया है। माया में पड़े हुए लोग तो इस दुख को सुख ही समझते हैं। कबीर ने कहा है —

**“सुखीया सब संसार है, खावै अरु सोवै,
दुखिया दास कबीर है जागे अरु रोवै।”⁵¹**

माया में पड़ा हुआ मनुष्य अपनी ही बात सोचता रहता है इसी से वह परमात्मा को नहीं पा सकता। परमात्मा को पाने के लिए इस माया को छोड़ना पड़ता है और यह भक्ति से ही संभव है।

प्रेम शब्द की व्युत्पत्ति—

प्रेम शब्द का अर्थ है—“संज्ञा पुं. (सं०) 1) वह मनोवृत्ति जिसके अनुसार किसी वस्तु या व्यक्ति आदि के सम्बन्ध में यह इच्छा होती है कि वह सदा हमारे पास या हमारे साथ रहे, उसकी वृद्धि, उन्नति या हित हो अथवा हम करें। वह भाव जिसके अनुसार किसी दृष्टि से अच्छी जान पड़ने वाली किसी चीज या व्यक्ति को देखने, पाने, भोगने, अपने पास रखने अथवा रक्षित करने की इच्छा हो/स्नेह/मुहब्बत/अनुराग/प्रीति/”⁵² “प्रेमन्—(पुं० नपुं०) (प्रियस्य भावः इमनिच् प्रादेशः एकाच्चत्वात् न टिलोपःतारा०) प्रेम, स्नेह—तत्प्रेम—हेमनिकषोपलतां तनोतिगीत० ११, मेघ० ४४ 2) अनुग्रह, कृपा, कृपापूर्ण या मृदु व्यवहार 3) आमोद—प्रमोद, मनोविनोद, 4) हर्ष, खुशी, उल्लास/सम. अश्रु (नपु०) हर्षाश्रु, स्नेहाश्रु, ऋद्धिः (स्त्री०) स्नेहवर्धन, उत्कट प्रेम—पर (वि०) स्नेहशील, प्रिय, —पातनम् 1) (हर्ष के) आँसू (2) (आँसू गिराने वाली) आँख—पात्रम् प्रेम की वस्तु, कोई प्रिय व्यक्ति या वस्तु—बन्धः बन्धनम् स्नेहबन्धन, प्रेम की फाँस।”⁵³ श्रीमद्भागवत में कहा गया है—

“तत्रोपायसहस्राणामयं भगवतो दितः।

यदीश्वरे भगवति यथा यैरंजसा रतिः।।”⁵⁴

अर्थात् यों तो इन त्रिगुणात्मक कर्मों की जड़ उखाड़ फेंकने के लिए अथवा बुद्धि वृत्तियों का प्रवाह बंद कर देने के लिए सहस्रों साधन हैं; परन्तु जिस उपाय से और जैसे सर्वशक्तिमान् भगवान् में स्वाभाविक निष्काम प्रेम हो जाय, वही उपाय सर्वश्रेष्ठ है। यह बात स्वयं भगवान् ने कही है। इस प्रकार प्रेम पूर्वक की गयी भक्ति ही सर्वश्रेष्ठ है। जिससे मन स्वच्छ हो जाता है तथा अपने—पराये का भेद मिट जाता है। कबीरदास ने मन को निर्मल करने के लिए और उसके सब विकारों के उन्मूलन के लिये प्रेम को सबसे आवश्यक तत्त्व माना है। कबीर की भक्ति का स्वरूप इस प्रकार से बहुत ही अधिक प्रभावित हुआ।

रहस्यवाद— रहस्यवाद का अर्थ है, आत्मा और परमात्मा का एक होना। भगवद् भक्ति के माध्यम से ही आत्मा और परमात्मा का मिलन होता है। भक्ति के माध्यम से आत्मा पर से माया का आवरण हटता है। तथा आत्मा व परमात्मा का संयोग हो जाता है। यही रहस्यवाद है। “रहस्यवाद जीवात्मा की उस अन्तर्हित प्रवृत्ति का

प्रकाशन है जिसमें वह दिव्य और अलौकिक शक्ति से अपना शान्त और निश्छल सम्बंध जोड़ना चाहती है, यह सम्बंध यहाँ तक बढ़ जाता है कि दोनों में कुछ भी अंतर नहीं रह जाता। जीवात्मा की शक्तियाँ इसी शक्ति के अनंत वैभव और प्रभाव से ओत-प्रोत हो जाती हैं। जीवन में केवल उसी दिव्य शक्ति का अनंत तेज अन्तर्हित हो जाता है और जीवात्मा अपने आस्तित्व को एक प्रकार से भूल सी जाती है। एक भावना, एक वासना हृदय में प्रभुत्व प्राप्त कर लेती है और वह भावना सदैव जीवन के अंग प्रत्यंगों में प्रकाशित होती है। यही दिव्य संयोग है! आत्मा उस दिव्य शक्ति से इस प्रकार मिल जाती है कि आत्मा में परमात्मा के गुणों का प्रदर्शन होने लगता है और परमात्मा में आत्मा के गुणों का प्रदर्शन।⁵⁵ इस प्रकार रहस्यवाद के अंतर्गत आत्मा में परमात्मा का स्वरूप दिखाई देता है। दोनों में कोई भिन्नता नहीं होती। इस संयोग में एक प्रकार का उन्माद होता है, नशा रहता है। उस एकान्त सत्य से, उस दिव्य शक्ति से जीव का ऐसा प्रेम हो जाता है कि वह अपनी सत्ता परमात्मा की सत्ता में अन्तर्हित कर देता है। उस प्रेम में चंचलता नहीं रहती, अस्थिरता नहीं रहती, कबीर के अनुसार यह प्रेम पति-पत्नी के सम्बंध ही में पूर्णता को पहुँचता है। इस लिए कबीर ने आत्मा को स्त्री रूप देकर परमात्मा रूपी पति की आराधना की है। जब तक ईश्वर की प्राप्ति नहीं होती, तब तक आत्मा विरहिणी के समान दुखी होती है। जब आत्मा परमात्मा से मिल जाती है तब रहस्यवाद के आदर्श की पूर्ति हो जाती है। दोनों में कोई अन्तर नहीं रहता। “कबीर ने ईश्वर की उपासना में अपनी आत्मा को पूर्ण रूप से पतिव्रता स्त्री माना है। वे परमात्मा से मिलने के लिए बहुत व्याकुल है। परमात्मा से विरह का जीवन उन्हें असह्य है। कबीर का रहस्यवाद बहुत ही भावमय है। उसमें परमात्मा के लिए अविचल प्रेम है। जब उसकी पूर्ति होती है तो कबीर की आत्मा एक विवाहिता पत्नी की भाँति पति से मिलाप करने पर प्रसन्न हो उठती है।”⁵⁶ इस प्रकार आत्मा का परमात्मा से मिलन होने पर लौकिक अंश, जो अज्ञानावस्था में प्रधान रहता है, किसी गिनती में नहीं रह जाता; उसे अपने में अंतर्हित आत्म तत्व का ज्ञान हो जाता है और उस ब्रह्म के साथ तादात्म्य की अनुभूति हो जाती है। “मनुष्य की आत्मा ब्रह्म के साथ एक है और ब्रह्म ही एकमात्र चिरस्थायी सत्ता है जिसका नाश नहीं हो सकता। अत

एव मनुष्य की आत्मा का भी नाश नहीं हो सकता, यही कबीर के अमरत्व का रहस्य है—

हरि मरिहै तौ हमहू मरिहै, हरि न मरै हम काहै कूँ मरिहैं।⁵⁷

इस प्रकार भक्ति के द्वारा सब माया रूपी बन्धन टूट जाते हैं तथा जीव बह्ममय हो जाता है। “माया के दो भेद हैं— जिसमें से एक विद्यारूपिणी है और दूसरी अविद्यारूपिणी।⁵⁸ विद्या माया तो भक्त को भगवान् से मिलाने वाली होने के कारण सुख रूपा है तथा अविद्या माया बन्धन रूपा होने के कारण दुख रूपा है। “विद्यामाया के सहारे तो सृष्टि, स्थिति और प्रलय का चक्र चला करता है और अविद्या के सहारे नियति का चक्र चला करता है। माया की विद्या शक्ति तो संसार—लीला के प्रवाह के लिए आवश्यक हैं। अविद्या शक्ति दुष्ट और दुख रूप कही गई है।⁵⁹ विद्या माया से सृष्टि, स्थिति, प्रलय अथवा यों कहिए कि रजोगुण, सतोगुण और तमोगुण का तारतम्य चला करता है। इसी से क्षिति, जल, नभ, पावक, पवन की रचना होती है। इन्हीं पंच तत्वों से शरीर बनते हैं और शरीर में चैतन्य सत्ता का विकास होने से जीवों का संगठन होता है। शरीर सम्बद्ध होने के कारण जीव अपने को शरीर—परिच्छिन्न और इस प्रकार व्यक्तित्व विशिष्ट मानने लगता है। इसी मानने लगने का नाम अविद्या है। इसी के कारण जीव संसारी बन जाता है। कबीर के अनुसार (अविद्या) माया जीवों को भरमा रही है।

“तू माया रघुनाथ की, खेलन चली अहेड़ै।

चतुर चिकारे चुणि—चुणि मारे, कोई न छोड़या नैड़े।⁶⁰

“सब कुछ ब्रह्म तो है पर केवल तत्त्वतः उस रूप में नहीं जिस रूप में वह दिखाई देता है, क्योंकि जो कुछ दिखाई देता है मायाकृत है, मिथ्या है।⁶¹ सत्य तो केवल ईश्वर है जो भक्ति के माध्यम से प्राप्त किया जाता है। भक्ति के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा सांसारिक आकर्षण उपस्थित करते हैं। लोभ, धन, ऐश्वर्य, प्रभुत्व के प्रलोभन में ईश्वर को लोग भूल जाते हैं और विषय रस में लीन हो जाते हैं। सांसारिक प्रलोभनों में फँसाने वाली शक्ति को ही ‘माया’ कहा जाता है। “परमेश्वर की बीज शक्ति का नाम ‘माया’ है। माया रहित होने पर परमेश्वर में प्रवृत्ति नहीं होती और न वह जगत् की सृष्टि करता है।⁶² रहस्यवाद—आत्मा और परमात्मा अभिन्न हैं उनका

एक अस्तित्व है। माया के कारण उनमें भिन्नता दीख पड़ती है। माया से मुक्ति पा लेने के बाद यह भिन्नता समाप्त हो जाती है। आत्मा और परमात्मा एक ही शक्ति के दो भाग हैं। इन दोनों के मध्य माया का आवरण पड़ा हुआ है, जो इनको परस्पर नहीं मिलने देता। इस आवरण का विध्वंस होने पर आत्मा और परमात्मा का एकीकरण हो जाता है। आचार्य शंकर के अनुसार भी केवल "ब्रह्म ही सत्य है। उसी की सत्ता है, शेष जगत्-सृष्टि आदि सब मिथ्या है। जब सृष्टि मिथ्या है, तब सृष्टि की धारणा भी अनावश्यक एवं मिथ्या ही है। ब्रह्म के सत्यज्ञान हो जाने से मुक्ति हो जाती है। ब्रह्म और जीव में कोई अन्तर नहीं है।"⁶³ यह भक्ति से ही संभव है। भक्ति के कारण आत्मा (जीव) पर से माया का आवरण हट जाता है और वह परमात्मा में लीन हो जाती है अर्थात् आत्मा व परमात्मा एक हो जाते हैं इसी बात का लक्ष्य कर कबीर ने कहा है—

“जल में कुँभ, कुँभ में जल है, बाहिर भीतर पानी।

फूटा कुँभ जल जलहि समाना, यहु तत कथ्यो गियानी।।”⁶⁴

पानी से भरे जलाशय में रखे घड़े के भीतर और बाहर जैसे जल ही जल होता है और घड़े के टूट जाने पर घट के भीतर का जल जलाशय के जल में मिल जाता है उसी प्रकार इस नश्वर मानव शरीर के नष्ट होने पर (जिसे कबीर ने घड़े की भाँति क्षणभंगुर माना है।) आत्मा व परमात्मा का मिलन हो जाता है। इस प्रकार ब्रह्म (परमात्मा) और जीव (आत्मा) में कोई अन्तर नहीं रहता है। सूफियों के अनुसार— खुदा और बंदे (आत्मा और परमात्मा) का साक्षात्कार संभव है किन्तु यह लोग माया की सत्ता बिल्कुल नहीं मानते। सूफी मत में आत्मा परमात्मा से साक्षात्कार करने के लिए बड़ी व्यग्रता से उसी प्रकार अग्रसर होती है जिस प्रकार एक यात्री अपने निर्दिष्ट स्थान की ओर तेजी से आगे बढ़ता है। “परमात्मा से साक्षात्कार करने तक व्यक्ति को चार दशाएँ पार करनी पड़ती हैं—(1) शरीयत (2) तरीकत (3) हकीकत (4) मारिफत इस चौथी दशा में आकर आत्मा और परमात्मा का (बंदा और खुदा का) साक्षात्कार होता है। इस दशा में आते ही आत्मा 'फना' होकर 'बका' के लिए तैयार होती है।"⁶⁵ इस प्रकार व्यक्ति अपने में ईश्वरीय शक्ति की अलौकिक ज्योति देखने लगता है। इसके पश्चात् अनलहक पूर्ण होता है। इसी प्रकार उपर्युक्त चारों दशाओं को पार करती हुई आत्मा परमात्मा से मिलती है, फिर

उन दोनों में कोई अन्तर नहीं रह जाता।। “संक्षेप में हम रहस्यवाद को ब्रह्म के आध्यात्मिक स्वरूप से आत्मा की भावात्मक ऐक्यानुभूति के इतिहास का प्रकाशन कह सकते हैं।”⁶⁶ इस प्रकार ससीम (मनुष्य) का असीम (ईश्वर) में तारतम्य हो जाता है। इसी प्रकार महादेवी वर्मा ने कहा है कि “जब प्रकृति की अनेकरूपता में, परिवर्तनशील विभिन्नता में, कवि ने एक ऐसा तारतम्य खोजने का प्रयास किया जिसका एक छोर किसी असीम चेतन और दूसरा उसके ससीम हृदय में समाया हुआ था। तब प्रकृति का एक-एक अंश एक अलौकिक व्यक्तित्व लेकर जाग उठा। परन्तु इस सम्बंध में मानव हृदय की सारी प्यास न बुझ सकी, क्योंकि मानवीय सम्बंधों में जब तक अनुराग जनित आत्मविसर्जन का भाव नहीं घुल जाता तब तक वे सरस नहीं हो पाते और जब तक यह मधुरता सीमातीत नहीं हो जाती तब तक हृदय का अभाव नहीं दूर होता। इसी से इस अनेकरूपता के कारण पर एक मधुरतम व्यक्तित्व का आरोपण कर उसके निकट आत्म निवेदन कर देना इस काव्य का दूसरा सोपान बना जिसे रहस्यमय रूप के कारण ही रहस्यवाद का नाम दिया गया।”⁶⁷ इस प्रकार आत्मा परमात्मा से मिलने को आतुर रहती है तथा माया का आवरण हटते ही आत्मा व परमात्मा का ऐक्य हो जाता है। कबीर कहते हैं आत्मा जब तक परमात्मा से नहीं मिल जाती तब तक चैन से नहीं बैठती—

“बहुत दिनन की जोवती, बाट तुम्हारी राम।

जिव तरसै तुझ मिलन कूं मनि नहीं विश्राम।।”⁶⁸

कबीर ने राम को (ईश्वर को) अपने जीवन का आधार माना है वे तब तक चैन से नहीं बैठ सकते जब तक उनकी आत्मा उस राम रूपी परमात्मा का मिलन नहीं कर लेती।

रहस्यवाद की परिस्थितियाँ—

जब आत्मा का परमात्मा से संयोग होता है तो रहस्यवाद उत्पन्न होता है। आत्मा किन-किन परिस्थितियों से होकर परमात्मा में लीन होती है। यही रहस्यवादी की परिस्थितियाँ हैं। मनुष्य संसार में रहता है और सांसारिक प्रलोभनों की ओर आकर्षित रहता है। उस पर माया का आवरण पड़ा रहता है। वह अज्ञान के इंद्रजाल में फँस जाता है तथा वास्तविक सत्य (ईश्वर) को भूल बैठता है उसकी यह अज्ञानता भक्ति के द्वारा दूर होती है तथा वह व्यक्ति विशेष अनंत शक्ति से

अपना सम्बंध जोड़ने के लिए अग्रसर होता है। “वह संसार की सीमा को पार कर ऐसे लोक में पहुँचता है जहाँ भौतिक बन्धन नहीं, जहाँ संसार के नियम नहीं, जहाँ उसे अपने शारीरिक अवरोधों की परवाह नहीं है। वह ईश्वर के समीप पहुँचता है और दिव्य विभूतियों को देखकर चकित हो जाता है।”⁶⁹ यह रहस्यवादी की प्रथम परिस्थिति है। इस स्थिति में संसार की सभी वस्तुएँ अनंत शक्ति में विश्राम पाती हैं और सभी अनंत सत्ता में आकर मिल जाती हैं। यहाँ रहस्यवादी ने अपने लिए कुछ भी नहीं कहा है, वह चुप है। उसे ईश्वर की इस अनंत शक्ति पर आश्चर्य सा होता है। वह मौन होकर इन बातों को देखता—सुनता है। इस समय वह अपना व्यक्तित्व भूल जाता है पर ईश्वर की अनुभूति भी हृदय में पाने में असमर्थ है। इसे हम रहस्यवादियों की प्रथम स्थिति कहेंगे। द्वितीय स्थिति तब आती है जब आत्मा परमात्मा से प्रेम करने लग जाती है। प्रेम में प्रेमी अपने प्रिय से दूर नहीं रह सकता। वह अपने प्रिय का सानिध्य चाहता है। आत्मा भी अब परमात्मा से मिलने को तड़प उठती है। संसार की अन्य वस्तुएँ उसकी नजर से हट जाती हैं। आश्चर्यचकित होने की अवस्था निकल जाती है। अब तो रहस्यवादी चुप—चाप अपने आराध्य को प्यार करने लग जाता है। वह प्यार इतना प्रबल होता है कि उसके समक्ष संसार की कोई चीज स्थिर नहीं रह सकती। इस प्रेम के आगे कोई सांसारिक वासना नहीं ठहर सकती। “सभी भावनाएँ, हृदय की सभी वासनाएँ बड़े जोर से एक ओर को बह जाती हैं और एक—केवल एक भाव—रह जाता है, और वह है प्रेम का प्रवाह। रहस्यवादी की यह एक गम्भीर परिस्थिति है जहाँ वह अपने आराध्य के प्रेम से इतना ओत—प्रोत हो जाता है कि उसे अन्य कुछ सोचने का अवकाश ही नहीं मिलता।”⁷⁰ इसके पश्चात् रहस्यवादियों की तीसरी स्थिति आती है जो रहस्यवाद की चरम सीमा कहला सकती है। इस दशा में आत्मा और परमात्मा का इतना एकीकरण हो जाता है कि फिर उनमें कोई भिन्नता नहीं रहती। आत्मा अपने में परमात्मा का अस्तित्व मानती है और परमात्मा के गुणों को प्रकट करती है। इस स्थिति में आत्मा व परमात्मा में कोई अन्तर नहीं रहता है। “प्रारम्भिक अवस्था में माया के वातावरण में आत्मा और परमात्मा दो भिन्न शक्तियाँ जान पड़ती हैं पर जब दोनों आपस में मिलती हैं तो परमात्मा के गुणों का प्रवाह आत्मा में इतने अधिक वेग से होता है कि आत्मा के स्वाभाविक निज के गुण तो लुप्त हो जाते हैं

और परमात्मा के गुण प्रकट जान पड़ते हैं। वही अभिन्न सम्बंध रहस्यवादियों की चरम सीमा है।⁷¹ ऐसी स्थिति में आत्मा इस बन्धनमय संसार से ऊपर उठ कर उस लोक में पहुँच जाती है जहाँ प्रेम का अस्तित्व है और उस प्रेम के कारण आत्मा और परमात्मा में कुछ भिन्नता प्रतीत नहीं होती है। वह अनुभूति इतनी दिव्य, इतनी अलौकिक होती है कि संसार के शब्दों में उसका स्पष्टीकरण असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है। वह कांति दिव्य है, अलौकिक है। हम उसे साधारण आँखों से नहीं देख सकते। “कबीर ने स्पष्ट कह दिया है कि परमात्मा का प्रेम और उसकी अनुभूति गूँगे का सा गुण है। यही रहस्यवाद का मूल है।”⁷² इस प्रकार हम कह सकते हैं कि रहस्यवाद का उत्स गोपन है। भक्त कवियों में ईश्वर के प्रति आसक्ति पाई जाती है। कबीर ने लिखा है—

“पिंजर प्रेम प्रकासिया , जाग्या जौग अनंत ।

संसा खूटा सुख भया, मिल्या पियारा कंत ॥

पयंजर प्रेम प्रकासिया अंतरि भया उजास ।

मुख कसतूरी नहमहीं , बाणी फूटी बास ॥”⁷³

अर्थात् प्रेम बहुत पवित्र वस्तु है। उसके सदय होते ही अज्ञान जनित अंधकार नष्ट हो जाता है, आत्मा निर्मल होकर ईश्वरोन्मुख होने लगती है। यही नहीं उस प्रेम के प्रभाव से मनुष्य का अन्तःकरण अत्यन्त निर्मल हो जाता है और उसमें कस्तूरी की—सी सुगन्ध भर जाती है भक्त को भगवान् की इंद्रियातीत अनुभूति होती है और उसका आनंद छलककर उसकी वाणी द्वारा प्रकट हुए बिना रह नहीं सकता और वह ईश्वर से अपना सम्बन्ध स्थापित कर लेता है।

कबीर ने भी एक स्थान पर अपने को ‘राम की बहुरिया’ बतलाया है।

“हरि मेरा पीव भाई, हरि मेरा पीव । हरि बिन रहि न सकै मेरा जीव ॥

हरि मेरा पीव मैं हरि की बहुरिया । राम बड़े मैं छुटक लहुरिया ॥”⁷⁴

अर्थात् कबीर ने राम को अपने जीवन का आधार माना है। कबीर कहते हैं जब राम की कृपा होगी तभी अज्ञान का नाश होगा तथा भक्ति की प्राप्ति होगी। इसमें कोई संशय नहीं है कि जब राम की भक्ति प्राप्त हो जाएगी तो मुक्ति स्वतः प्राप्त हो जायेगी।

“कहे कबीर संसा नाही भगति सुगति गति पाइ रे ॥”⁷⁵

कबीर का विष्वास है कि राम ही सर्वसत्य है और राम की भक्ति से ही मुक्ति हो जाती है। कबीर कहते हैं कि इस राम रस का पान करने वाला आनन्द से उन्मत्त हो जाता है। वह सदैव ही खुमार में भरा रहता है वह इतना मदमस्त हो जाता है कि उसे अपने आप का भी पता नहीं रहता –

“हरि रस पीया जानिये, जे कबहू न जाइ खुमार।

मैं मंता घूमत रहै, नांही तन की सार।।”⁷⁶

इस ‘प्रेमरस’ को पीते हुए संतलोग नहीं अघाते थे। कबीर कहते हैं –

“राम रसायन प्रेमरस पीवत नहीं अघाय।”⁷⁷

कबीर ने स्पष्ट कह दिया है कि “परमात्मा का प्रेम और उसकी अनुभूति गुँगे का सा गुण है।”⁷⁸ वास्तव में इन सतों का प्रेम ईष्वरोन्मुख था।

करुणा :- करुणा शब्द का अर्थ है—“{करुण+टाप्} अनुकंपा, दया, दयालुता—प्रायः सर्वो भवति करुणावृत्तिरादृन्तरात्मा—मेघ. ६३; इसी प्रकार ‘सकरुण=सदय’ तथा “अकरुण=निर्दय”। सम.—आर्द्र(वि.)कोमल—हृदय, दया से पसीजा हुआ, संवेदनशील—निधिः दया का भण्डार,—पर,—मय(वि.) अत्यन्त कृपालु,— विमुख (वि.) निर्दय, क्रूर – करुणाविमुखेन मृत्युना – रघु. ८/६७।”⁷⁹ “संज्ञा स्त्री.(सं.) वह मनोविकार वा दुःख जो दूसरों के दुःख के ज्ञान से उत्पन्न होता है और जो दूसरों के दुःख को दूर करने की प्रेरणा करता है। दया। रहम। तर्स। यौ.—करुणाकर। करुणानिधि। करुणासिंधु। करुणामय। करुणायतन। करुणार्द्र, इत्यादि।

(2) वह दुःख जो अपने प्रिय बंधु, इष्ट मित्रादि के वियोग से उत्पन्न होता है। शोक।

(3) करना का पेड़। उ. सिय को कछु सोध कहो करुणामय सो करुणा करुणाकरिकै। केषव।”⁸⁰ भक्ति में करुणा का सर्वोपरि महत्त्व है। करुणा मनुष्य को हिंसा से अहिंसा की ओर ले जाती है। यह सबसे पहले मनुष्य में अपनापन उत्पन्न करती है और उसे संवेदनशील बनाती है। “मनुष्य की प्रकृति में शील और सात्त्विकता का आदि संस्थापक यही करुणा (दया) है।”⁸¹ प्रत्येक मनुष्य के लिए उससे भिन्न प्राणी संसार है। जिन कर्मों से दूसरे के वास्तविक सुख का साधन और दुःख की निवृत्ति हो वे शुभ और सात्त्विक हैं तथा जिस अन्तःकरणवृत्ति से इन कर्मों

से प्रवृत्ति हो, वह सात्त्विक है तथा यह करुणा के द्वारा ही संभव है क्योंकि "मनुष्य के अन्तःकरण में सात्त्विकता की ज्योति जगाने वाली यही करुणा है।"⁸² करुणा हमारे अंदर सात्त्विकता की ज्योति जगाकर हमें निर्मल बनाती है। इसी के कारण हम दूसरे के दुःख से दुःखी हो जाते हैं क्योंकि करुणा का विषय दूसरे का दुःख है। "सामाजिक जीवन की स्थिति और पुष्टि के लिए करुणा का प्रसार आवश्यक है।"⁸³ इस प्रकार करुणा के प्रसार से समाज में भलाई का वातावरण उत्पन्न होता है तथा समाज से हिंसा की प्रवृत्ति कम होने लगती है। समाज में समरसता की स्थिति आ जाती है। करुणा भक्त में अपनापन उत्पन्न करती है। भक्तको निष्कल, निष्कपट व सरल बनाती है।

सेवा :- संस्कृत-हिन्दी कोष के अनुसार – "सेवा – {सेव्+अङ्+टाप्} 1) परिचर्या, खिदमत, दासता, टहल-सेवां लाघवकारिणीं कृतधियः स्थाने ष्ववृत्तिं विदुः-मुद्रा. ३/१४, हीनसेवा न कर्तव्या-हि. ३/११ 2) पूजा, श्रद्धांजलि, सम्मान 3) संलग्नता, भक्ति, चाव 4) उपयोग, अभ्यास, काम में लगना, प्रयोग 5) बार-बार आना-जाना, आश्रय लेना 6) चापलूसी, बहकाना, चिकने चुपड़े शब्द अलं सेवया मध्यस्थतां ग्रहीत्वा भण- (मालवि.३। सम०- आकार(वि०) दासता के रूप में-विक्रम. ३/१"⁸⁴

हिन्दी – शब्दसागर के अनुसार – "सेवा-संज्ञा स्त्री. (सं.) 1) दूसरे को आराम पहुँचाने की क्रिया। खिदमत। टहल। परिचर्या। जैसे-हमारी बीमारी में इसने बड़ी सेवा की। यौ०-सेवा षुश्रूषा । सेवा टहल। 2) दूसरे का काम करना। नौकरी । चाकरी। विशेष राज्य की सेवा के अतिरिक्त और प्रकार की सेवा-वृत्ति अधम कही गई है। 3) आराधना। उपासना। पूजा। जैसे-ठाकुर की सेवा। मुहा. सेवा में= पास/समीप/सामने/जैसे-(क) मैं कल आपकी सेवा में उपस्थित रहूँगा। (ख) मैंने आपकी सेवा में एक पत्र भेजा था।(आदरार्थ, प्रायः बड़ों के लिये) 4) आश्रय/षरण/जैसे-आप मुझे अपनी सेवा में ले लेते तो बहुत अच्छा था। 5) रक्षा/हिफाजत/जैसे-सेवा बिना ये पौधे सूख गए।"⁸⁵ इस प्रकार सेवा का तात्पर्य अपने आराध्य को आराम पहुँचाना है। इसलिए "दुःखनिवृत्ति के लिए योग, यज्ञ, ध्यान, सेवा, सत्संग और ज्ञान आवश्यक माने गये हैं।"⁸⁶ इस प्रकार जीवन को सुखमय बनाने के लिये प्रेम पूर्वक सेवा करनी चाहिए। सेवा किसकी यह बात अन्दर

उठती है। अपनों की सेवा या किसी और की। इसलिए "सेवा की तीन दिशाएँ हैं—
(क) गुरु—सेवा, (ख)सन्त—सेवा, (ग)प्रभु—सेवा।"⁸⁷

(क) गुरु—सेवा :- गुरु की सेवा ईश्वर की सेवा के बराबर है। गुरु की कृपा से ही ईश्वर के दर्शन होते हैं क्योंकि "गुरु में सदाचार, सद्दिचार और सद्भाव पूरी मात्रा में विद्यमान रहते हैं। वह कृपा का समुद्र रहता है और वह मनुष्य के रूप में साक्षात् ईश्वर ही होता है। दूसरे सन्त तो जीवों को अपना सामान्य प्रभाव ही प्रदान करते हैं परन्तु गुरु अपनी विशेष शक्ति प्रदान करके शिष्य के कल्याण साधन का मार्ग विस्तृत करता है।"⁸⁸ इस प्रकार गुरु हमें सतपथ पर चलना सिखाते हैं तथा हमारी आध्यात्मिक शक्ति में उत्तेजना लाते हैं। गुरु ही हमें ईश्वर के दर्शन करा सकते हैं। इसलिए गुरु को भगवान् के तुल्य कहा जाता है। गुरु को भगवान् का स्थान देने की परम्परा का विकास बहुत पहले ही हो चुका था और "गुरुर्ब्रह्मा, गुरुर्विष्णु , गुरुर्देवो महेश्वरः।

गुरुःसाक्षात् परब्रह्म तस्मै श्री गुरुवे नमः।।"⁸⁹

आदि वाक्यों में इसका प्रमाण मिलता है। तमिल में आलवार हुए, उनकी भक्ति में गुरु सेवा विद्यमान है। "उनकी पूजा— अर्चा विधि में नाममहिमा, कीर्तन, अर्चन, शरणागति, गुरु महिमा, सत्संगति, वैराग्य, अपरिग्रह, इन्द्रिय विजय, शरीर की क्षणभंगुरता आदि को स्थान प्राप्त है।"⁹⁰ गुरु आध्यात्मिक जीवन का पथ—प्रदर्शक है। अज्ञान—तिमिर में गुरु ज्ञान—दीपक है। गुरु की सहायता के बिना मन का मैल दूर नहीं हो सकता और परमात्मा की प्राप्ति असंभव है। गुरु की कृपा आत्मा को परमात्मा से मिलने के रास्ते पर ले जाने वाली है। गुरु ईश्वर के सदृश्य आदरणीय है। कुछ भक्तों ने तो गुरु को ईश्वर से भी अधिक पूज्य बताया है। आलवारों के अनेक पदों में गुरु की महिमा गायी गयी है। मधुर कवि आलवार की एक मात्र रचना "कण्णिनुणचिरुतांबु" का वर्ण्य—विषय ही गुरु—भक्ति है। "सद्गुरु की खोज में भटकने वाले मधुर कवि नम्मालवार को गुरु—रूप में पाकर अपने जीवन को धन्य समझते हैं। वे गुरु को ईश्वर से भी श्रेष्ठ मानते हैं। और गुरु की सेवा को अपना परम धर्म मानते हैं।"⁹¹ "नम्मालवार एक निम्न जाति का युवक था।"⁹² जिसे मधुर कवि जैसे वयोवृद्ध ब्राह्मण ने अपना गुरु बनाया क्योंकि आळवार भक्ति के क्षेत्र में गुरु—शिष्य के जाति—भेद को नहीं मानते थे। आलवारों का मानना था कि मनुष्य की

पहचान जाति से न होकर, भक्ति से होती है। मधुर कवि का मत है कि गुरु भगवद्-स्वरूप है। वह अपना शरीरादि सर्वस्व निवेदन करते हुए, सर्वदा अनुगमन करते हुए, अत्यन्त तुच्छ सेवक के समान दिन रात गुरु की सेवा में रहता है। गुरु-सेवा से सर्वेष्वर सन्तुष्ट हो जाते हैं। मधुर कवि ने अपने कथन से ही नहीं, बल्कि अपने कर्मों द्वारा भी भक्ति की महिमा साबित की है। मधुर कवि गुरु की स्तुति में कहते हैं— “गुरु (नाम्मालवार) का नाम लेते ही मेरी जिह्वा अमृत आस्वादन का सा आनन्द प्राप्त करती है।”⁹³ इस प्रकार गुरु की कृपा से जीवन में अमृत रूपी वर्षा होने लगती है। गुरु गूढ़ से गूढ़ रहस्यों को बड़ी सरलता के साथ साधक को समझाता है तथा साधक के सभी दोषों को उसके जीवन से दूर कर देता है। इसलिए गुरु को जीवन का पथ-प्रदर्शक कहते हैं। “वेद के गूढ़ से गूढ़ तत्त्वों को गुरु ने मुझे सरलता से समझाया। श्रेष्ठ गुरु (नाम्मालवार) की दासता स्वीकार कर मैं अपने को धन्य समझता हूँ। मुझमें वास करने वाले दोषों को गुरु (नाम्मालवार) ने दूर किया। मैं श्रेष्ठ गुरु की महिमा दिशा-दिशा में फैला दूँगा। मैं गुरु की कृपा की याचना करता हूँ।”⁹⁴ इस प्रकार गुरु अपने उपदेशों से शिष्य के विकारों का परिहार कर ज्ञान की ओर उन्मुख करता है। “सद्गुरु के बिना जगत् के चाहे और सभी व्यापार हो जावें पर यह जटिल साधना-पद्धति नहीं हो सकती।”⁹⁵ इस प्रकार आलवारों ने गुरु का महत्त्व विधि प्रकार से प्रतिपादित किया है। कबीर ने गुरु को विशेष महत्त्व दिया है। कबीर का विश्वास है कि ज्ञान प्राप्त करने तथा जीवन रूपी रथ को दिव्य पथ की ओर संचालित करने के लिए गुरु की आवश्यकता पड़ती है। कबीर के लिए गुरु का महत्त्व इस संसार में सबसे अधिक है। कबीर ने लिखा है—

“गुरु गोविंद दोरु खड़े काके लागौ पांय ।

बलिहारी गुरु आपने जिन गोविंद दियो बताय ।।”⁹⁶

कबीर ने लिखा है कि गुरु और ईश्वर दोनों मेरे सामने खड़े हैं; मैं किसके चरण-स्पर्श करूँ ? कबीर गुरु के महत्त्व को मानते हुए लिखते हैं कि मैं सर्व प्रथम गुरु के चरणों पर बलिहारी जाता हूँ जिन्होंने मुझे ईश्वर-प्राप्ति का मार्ग बताया।

“गुरु कुम्हार सिष कुंभ है गढ़ गढ़ काढ़े खोट ।

अंतर हाथ सहार दै बाहर भहै चोट ।।”⁹⁷

जिस प्रकार कुम्हार (कुंभकार) माटी से पात्रों को मनचाहा आकार देता है और पात्रों को बनाते समय ऊपर से वह हल्की-हल्की चोट करता है और भीतर से मिट्टी को हाथ का सहारा दिये रहता है, जिससे कि पात्र सुन्दर और सुडौल बने। उसी प्रकार गुरु अपने कठोर प्रतीत होने वाले आचरण (व्यवहार) के द्वारा शिष्य को अनुशासन में रखता है। लेकिन साथ ही अपनी उदारता एवं कृपा का सहारा शिष्य को प्रदान करके उसके वास्तविक चरित्र का निर्माण करता है। कबीर गुरु को ही साधक का चरित्र-निर्माता मानता है।

“यह तन विष की बेलरी गुरु अमृत की खान।

सीस दिए जो गुरु मिलैं, तो भी सस्ता जान।।”⁹⁸

यह शरीर तो विष की बेल है और गुरु अमृत की खान है। सिर देने पर अर्थात् सब कुछ समर्पित कर देने पर भी यदि गुरु की प्राप्ति हो जाती है तो उसे भी सस्ता मानना चाहिए। क्योंकि सतगुरु का मिलना बड़ा कठिन है। सभी संत कवियों ने अपने प्रियतम परमात्मा की प्राप्ति के लिए सद्गुरु को सच्चा हितैषी माना है। गुरु एक शक्ति के रूप में काम करता है। गुरु वह शक्ति है जो मानव चित्तवृत्तियों को संयमित करके मनुष्य को लोकोपकार की ओर उन्मुख करता है। कबीर ने लिखा है कि गुरु मनुष्य को पल भर में ही देवता बना देता है।

“जिन मानिष ते देवता, करत न लागी बार।”⁹⁹

वह साधक के नेत्रों को उघाड़कर साक्षात्कार में समर्थ करता है।

“सद्गुरु की महिमा अनँत अनँत किया उपगार।

लोचन अनन्त उघाड़िया, अनन्त दिखावण हार।।”¹⁰⁰

सद्गुरु के साक्षात्कार के पश्चात ही कबीर ज्ञान से युक्त हुए थे। इस लिए कबीर ने गुरु को ब्रह्म से भी ऊँचा माना है। गुरु ही ब्रह्म का साक्षात्कार कराता है। स्वाभाविक है कि गुरु ही सर्वश्रेष्ठ स्थान का अधिकारी है। गुरु में वह शक्ति होती है जो साधक के नेत्रों को इस लायक बना देता है कि वह अदृश्य शक्ति का भी साक्षात्कार कर सकता है। गुरु उसे सांसारिकता से हटाकर ईश्वरीय मार्ग की ओर प्रशस्त कर देते हैं। जो आँखें अब तक सांसारिक प्रलोभनों को देख पा रही थी। वह अब आध्यात्मिक मार्ग में रत होने के कारण उस परम नियन्ता को भी देखने में

सक्षम हो जाती है और यह कार्य गुरु कृपा बिना संभव नहीं है। कबीर ने अपने संबंध में लिखा है कि मैं लोक और वेद के साथ चला जा रहा था किन्तु सद्गुरु ने मुझे ज्ञान का दीपक दिया। जिसके प्रकाश में मैंने ब्रह्म की खोज की।

“पीछें लागा जाइ था, लोक बेद के साथि।

आगैं थैं सद्गुरु मिला दीपक दीया हाथि।।”¹⁰¹

अर्थात् मनुष्य संसार में आते ही अज्ञान के इंद्रजाल में फँस जाता है। वह लोक और वेद के व्यवहारों में पड़कर वास्तविक सत्य तत्त्व को भूल बैठता है। उसकी यह अज्ञानता गुरु ज्ञान—दीपक से ही दूर होती है। इस प्रकार गुरु अपने शिष्य को अंधकार से प्रकाश की ओर उन्मुख करते हैं। गुरु उसके अंदर के अंधकार को (यानी सांसारिकता को) नष्ट करके उसे प्रकाश (यानी ईश्वर) की ओर ले जाते हैं क्योंकि बिना सद्गुरु की कृपा से कोई भी साधक ब्रह्मानुभव में समर्थ नहीं हो सकता। भगवद्भक्ति का वरदान देने वाला गुरु ही होता है।

“गुरु बिना राम भगति नहीं जागे।”¹⁰²

इसी तरह से एक और स्थल पर कबीर गुरु का स्थान गोबिंद से ऊँचा बताते हुए लिखते हैं—

“हरि रूठे गुरु ठौर है, गुरु रूठे नहिं ठौर।”¹⁰³

सद्गुरु के गुणों की तरफ भी कबीर ने संकेत किया है कि गुरु को सच्चा साधक और शिष्य के पथ—पर्दर्शन की क्षमता रखनी चाहिए। जिस गुरु में यह क्षमता हो उसे ही कबीर ने सद्गुरु कहा है। सद्गुरु के प्रयत्न से ही शिष्य साधना—पथ को निर्विघ्न पार करने में सफल होता है। गुरु की सेवा द्वारा ही भगवद्भक्ति प्राप्त हो सकती है—

“गुरु सेवा ते भक्ति कमाई।”¹⁰⁴

कबीर की ज्ञान प्राप्ति में गुरु का महत्त्वपूर्ण योगदान था। इसलिए वे स्पष्ट लिखते हैं कि बिना गुरु के शिष्य ज्ञान की प्राप्ति नहीं कर सकता—

“गुरु बिन चेला ज्ञान न लहै।”¹⁰⁵

गुरु के विषय में कबीरदास का मत है कि यदि पूरी धरती को साफ एवं स्वच्छ करके कागज की तरह लिखने काबिल बना लिया जाए और सारे पेड़ों को छाँटकर कलमें बना ली जाएँ एवं समस्त सागरों में स्याही मिला ली जाए, फिर कबीर दास

को लिखने का मौका दिया जाए तब भी वे गुरु की अनंत महिमा का उसके अवर्णनीय महत्त्व का उल्लेख करने में समर्थ न हो—

“धरती सब कागद करूँ, लेखनि सब बनराइ ।

सात समुद्रं की मसि करूँ, गुरु गुन लिखा न जाइ ॥”¹⁰⁶

इस प्रकार स्पष्ट है कि गुरु के महत्त्व एवं उसकी उपयोगिता की कोई सीमा नहीं है। कबीर ने गुरु के हर पहलू को उजागर करके स्पष्ट कर दिया कि इस नश्वर संसार में गुरु के बिना कुछ नहीं। उसके गुनगान के लिए उसके पास शब्दों की भी कमी पड़ जाती है। कबीर ने गुरु को गोबिंद से पहले मानकार मुक्त कंठ से कह डाला है कि गुरु ही इस भवसागर को पार करा सकता है, अन्यथा साधक प्यासे हिरण की तरह मरुस्थल में भटकता ही रहेगा। संतों की तरह भक्तों ने भी गुरु-सेवा को विशेष महत्त्व दिया है। तुलसीदास तो अपने गुरु के विशेष कृतज्ञ हैं, क्योंकि उन्हीं से उनको राम-भक्ति का राजमार्ग प्राप्त होता है:—

“बहु मत मुनि बहु पंथ पुराननि जहाँ—तहाँ झगरो सो ।

गुरु कहयो राम—भजन नीको मोहिं लागत राज—डगरो सो ॥

तुलसी बिनु परतीति प्रीति फिरि—फिरि पचि मरै मरो सो ।

रामनाम—बोहित भव—सागर चाहै तरन तरो सो ॥”¹⁰⁷

अर्थात् मुनियों के अनेक मत हैं, (छः दर्शन हैं) और पुराणों में नाना प्रकार के पंथ देखकर जहाँ तहाँ झगडा—सा ही जान पड़ता है। गुरु ने मेरे लिए राम-भजन को ही उत्तम बतलाया है और मुझे भी सीधे राज-मार्ग के समान वही अच्छा लगता है। हे तुलसी! विश्वास और प्रेम के बिना जिसे बार-बार पच-पचकर मरना हो, वह भले ही मरे, किन्तु संसार-सागर से तरने के लिए तो राम-नाम ही जहाज है। जिसे पार होना हो वह (इस पर चढ़कर) पार हो जाय।

“तुलसिदास हरि—गुरु—करुना बिनु बिमल बिबेक न होई ।

बिनु बिबेक संसार—घोर—निधि पार न पावै कोई ॥”¹⁰⁸

अर्थात् “हे तुलसी दास! भगवान् और गुरु की दया के बिना संशयशून्य विवेक नहीं होता और विवेक हुए बिना इस घोर संसार सागर से कोई पार नहीं जा सकता ॥”¹⁰⁹ इस प्रकार तुलसी ने लिखा है कि गुरु के बिना इस घोर संसार सागर से कोई पार नहीं जा सकता क्योंकि गुरु ही ज्ञान रूपी जहाज बनकर साधक को

इस अज्ञान रूपी भवसागर से पार करा सकता है। नवीन साधकों के लिए तो गुरु परमेश्वर से भी बड़ा हुआ करता है क्योंकि गुरु-कृपा द्वारा ही शिष्य भगवत्कृपा की ओर उन्मुख होना सीख पाता है और तभी उसके मार्ग में वह अपने को प्रवृत्त भी कर सकता है। साधक चाहे जितने भी साधुओं का सत्संग करे उसे अपनी आत्मिक शक्ति में उत्तेजना लाने के लिए उनके साथ केवल कभी-कभी संसर्ग में आने से ही काम नहीं चल सकता। उन्हें एक ऐसे डायनमों की आवश्यकता है जो उन्हें अनवरत रूप में अभीष्ट विद्युत शक्ति की धारा पहुँचाता रहे। उसे चाहिए कि किसी एक साधू विशेष के साथ सदा के लिए संबंध स्थापित कर ले जिससे वह अपनी आध्यात्मिक साधना में बाधा उपस्थित होने की कभी आशंका आने पर पथ-प्रदर्शन की सहायता प्राप्त कर सके। साधुओं की संगति को 'सत्संग' का नाम दिया जाता है और वह वस्तुतः गुरु अथवा मार्ग-प्रदर्शक की खोज में ही किया जाता है। क्योंकि "गुरु एक डायनमों की तरह है जो साधक को अनवरत रूप में अभीष्ट विद्युत् शक्ति की धारा पहुँचाता है। बिना गुरु की सहायता के कोई प्रत्यावर्तन की यात्रा कर ही नहीं सकता, क्योंकि साधक को इस बात की कौन सी गारन्टी है कि वह ठीक राह पर चल रहा है जब तक उसे कोई व्यक्ति निश्चित मार्ग से विपथ होते समय बतला न दे।"¹¹⁰ इस प्रकार गुरु को आध्यात्मिक मार्ग में आने वाले सुखों तथा दुखों का पता होता है क्योंकि वह उक्त यात्रा को स्वयं पूर्ण कर चुका होता है तथा सुख दुख से अभिज्ञ होता है। इसलिए वह अपने साधक को सही मार्ग का ज्ञान करवाता है। गुरु या पथ-प्रदर्शक में इस बात की योग्यता होती है कि वह मार्ग में आगे आने वाली कठिनाइयों से परिचित करा दे ताकि वह (साधक) उनका सामना करने के लिए पहले से ही तत्पर हो जाय। गुरु एवं शिष्य दोनों के बीच पूर्ण निश्छलता एवं स्पष्टता के भाव होने चाहिए। शिष्य को चाहिए कि वह अपने गुरु के प्रति पूरी श्रद्धा रखे तथा उसके ऊपर पूर्णरूप से विश्वास करे। उसे अपने गुरु के सामने अपना हृदय खोलकर अपनी त्रुटियों और की गई उन्नतियों की सच्ची-सच्ची सूचना देनी चाहिए और इसके साथ ही गुरु को भी चाहिए कि उसके लिए प्रेम एवं सद्भाव प्रदर्शित करे तथा ऐसा कोई भी उपाय उसे बतलाने में न चूके जो उसके शिष्य के लिए किसी परिस्थिति में उपयोगी सिद्ध हो सकता हो। न केवल शिष्य को गुरु में पूरी श्रद्धा होनी चाहिए और उसके प्रति अपनी भक्ति

प्रदर्शित करनी चाहिए, बल्कि उसका यह भी कर्तव्य है कि अपने गुरु के चरणों में वह अपना सर्वस्व अर्पित कर देवे और तन—मन—धन से उसकी सेवा में लग जाय। वस्तुतः “सद्गुरु भी एक सच्चा पथ—प्रदर्शक व्यक्ति होना चाहिए, जो अपने निजी अनुभव की बातें ठीक ढंग से प्रत्यक्ष न करा सकने पर भी उसकी साधना के लिए पर्याप्त संकेत दे सके। ऐसे गुरु की योग्यता पर ही उसके शिष्य की सफलता निर्भर है, क्योंकि उचित मार्ग न पाकर साधक पथ—भ्रष्ट भी हो सकता है।”¹¹¹ इस कारण गुरु योग्य होगा तो अवश्य ही उसके शिष्य को सत्य का दिग्दर्शन होगा क्योंकि सत्य का स्वरूप अत्यंत गूढ़ वा रहस्यमय हैं। उसके अनादि एवं अनन्त होने के कारण ही उसे पूर्णतः अनुभवगम्य कर लेना अत्यंत दुष्कर जान पड़ता है। इस कारण ही भक्ति में अनुभवलब्ध तथा श्रद्धेय सद्गुरु की आवश्यकता होती है क्योंकि शिष्य अपने गुरु में पूर्ण आस्था रखता है, उसके प्रति अपने को पूर्णतः समर्पित कर देता है और तब कहीं उसके द्वारा कार्य क्षेत्र में लाया जा सकता है फिर भी उस निर्दिष्ट मार्ग में साधक को अपने ही बल पर चलना पड़ता है और तदनुसार जो कुछ भी वह प्राप्त करता है, वह अपने ढंग की ही वस्तु होती है, परन्तु नित्य वस्तु केवल एक एवं अद्वितीय ही हो सकती है और उसके निर्मल, शुद्ध एवं एक रस होने के कारण उसका अंशतः अनुभूत स्वरूप भी स्वभावतः अपने मूल रूप से किसी प्रकार भिन्न वा विजातीय नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार सभी सच्चे साधकों की अपनी—अपनी वस्तु भी मूलतः सबकी कहला सकती है। तात्पर्य यह कि पृथक्—पृथक् भी किये गए अनुभवों का आधार एक ही होने से भेद—भाव के सभी कारण आपसे आप नष्ट हो जायेंगे, पारस्परिक साम्य का बोध होने लगेगा, तथा क्षणिक व अनित्य वस्तुओं के बीच रहते हुए भी हम अपने को शांत, सुखी एवं सानंद पा सकेंगे। इस कारण गुरु का महत्त्व और बढ़ जाता है कि वह हमें सच्चे आनन्द का अनुभव कराता है। इसलिए गुरु शब्द भारतीय संस्कृति में अत्यंत सम्मान और गौरव का वाचक रहा है। मध्यकाल में तो यह शब्द परमतत्त्व का वाचक बन गया है। आध्यात्मिक क्षेत्र में साधक की जिज्ञासा शांति एवं लक्ष्य तक पहुँचाने के लिए गुरु की निर्विवाद अपेक्षा होती है। जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश के बिना अंधकार नहीं दूर होता, नाविक बिना नाव पार नहीं होती, उसी प्रकार गुरु के बिना जीव अपने मूल स्थान तक नहीं पहुँच सकता है। वस्तुतः “गुरु, शिष्य तथा परमात्मा

के बीच की महत्त्वपूर्ण कड़ी है। वह शिष्य की आँखों पर पड़े मायावरण को हटा कर उसे परमात्मा के दर्शन कराता है तथा उस तक पहुँचने का सुविधा जनक मार्ग बताता और निर्देशित करता है। गुरु की कृपा जिस पर हो गई उसका जीवन धन्य हो गया।¹¹² इस प्रकार गुरु हमें संसार के गर्त से निकालकर उस सच्चिदानन्द परम परमेश्वर से साक्षात्कार करवाता है। वह हमें सतपथ पर चलने का संदेश देता है। “भगवद्भक्ति का वरदान देने वाला गुरु ही होता है।”¹¹³ इस प्रकार हम कह सकते हैं कि नवीन साधकों के लिए तो गुरु परमेश्वर से भी बड़ा होता है क्योंकि गुरु—कृपा द्वारा ही शिष्य भगवत्कृपा की ओर उन्मुख होना सीख पाता है और तभी उसके मार्ग में वह अपने को प्रवृत्त भी कर सकता है। तुलसीदास के मत में गुरु ही सर्वश्रेष्ठ सज्जन है क्योंकि उसके बिना कोई भी मनुष्य चाहे वह ब्रह्मा और शंकर के समान ही क्यों न हो भवसागर से पार नहीं हो सकता। गुरु ही शिष्य या साधक के समस्त शोक, संशय तथा भ्रम को हर लेता है तथा शिष्य के कल्याण साधन का मार्ग प्रशस्त करता है। गुरु कृपा का समुद्र होता है और उसमें सदाचार, सद्विचार और सद्भाव पूरी मात्रा में विद्यमान होता है तथा उसे मनुष्य के रूप में साक्षात् ईश्वर ही समझना चाहिए।

ख) सन्त—सेवा:— साधु की सेवा करने में बहुत बड़ी आध्यात्मिक शक्ति समझी जाती है। जिस प्रकार चंदन का वृक्ष अपने निकटवर्ती वृक्षों को भी सुगन्धि व शीतलता प्रदान करता है अथवा भृंगी नाम का कीड़ा जिस प्रकार गाकर दूसरे कीड़ों को भी अपना रूप दे देता है उसी प्रकार साधु भी अपने निकट आने वालों को अपना स्वरूप दे देते हैं। इस प्रकार इहलौकिक मानव के लिए साधुओं के महत्त्व का बहुत बड़ा विस्तार है। साधु भगवान् से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। क्योंकि “साधु मनुष्य के समक्ष एक आध्यात्मिक शक्ति का संचालन करने वाला यंत्र है जिससे वे अपने अभीष्ट बल का संचय कर सकेंगे। साधु मनुष्य की सारी मानसिक प्रवृत्ति की जड़ता को हिलाकर दूर कर देता है और उसे अंतर्मुखी भी बना देता है।”¹¹⁴ इसलिए हम कहते हैं कि साधु ने आध्यात्मिक अनुभव प्राप्त कर लिया है। स्थूल प्रकृति पर विजय प्राप्त कर एक मानसिक संतुलन की स्थिति में पहुँच जाते हैं और जिसके सामंजस्य में किसी प्रकार की बाधा उपस्थित नहीं होती। वे पूर्णतः संतुलित होते हैं। इसलिए “संत लोग आदर्श महापुरुष हुआ करते हैं और इसके लिए उनका पूर्णतः

आत्मनिष्ठ होने के अतिरिक्त, समाज में रहते हुए निःस्वार्थ भाव से विश्व-कल्याण में प्रवृत्त रहा करना भी आवश्यक है।¹¹⁵ इसलिए हम कह सकते हैं कि साधु चरणों की सेवा में अमोघ शक्ति है। साधुओं के साथ संपर्क होने से एक ऐसे वातावरण की उपलब्धि होती है जो आध्यात्मिकता से ओत-प्रोत है और इस कारण आध्यात्मिक विकास के लिए नितांत उपयुक्त है। “साधु वस्तुतः ऐसे केन्द्र होते हैं जहाँ से आध्यात्मिकता का स्फुरण हुआ करता है।”¹¹⁶ इसलिए प्रत्येक देश व काल में साधुओं को लोग आध्यात्मिक प्रभाव फैलाने वाले समझते आये हैं। जिस प्रकार भगवान् की कृपा से ही भगवान् की प्राप्ति होती है वैसे ही साधु-जनों की प्राप्ति भी भगवत्कृपा से ही होती है। साधु की सेवा के बिना हरि-सेवा भी नहीं बन पड़ती। जिस घर में साधु की सेवा और हरि की सेवा नहीं होती वह श्मशान से कम नहीं है:—

“जा घर साध न सेवियहि, हरि की सेवा नांहि ।

ते घर मरहट सारखे, भूत बसहिं तिन मांहि ॥”¹¹⁷

कबीर ने तो यहाँ तक कहा है कि साधु की सेवा कभी निष्फल नहीं जाती—

“कबीर संगति साध की कदे न निरफल होइ ।

चंदन होसी बांवना, नींव न कहसी कोइ ॥”¹¹⁸

ग) प्रभु-सेवा— स्वतः किए गए प्रयत्नों में हरि सेवा का भी विशेष स्थान है। सेवा से प्रसन्न होकर ईश्वर साधक को सांसारिक बन्धनों से मुक्त कर देते हैं तथा मोक्ष से भी उच्चतम अवस्था में पहुँचा देते हैं। इसलिए अमावस में अपनी आशा का निवारण कर अंतर्यामी प्रभु की सेवा करनी चाहिए, क्योंकि वह ‘जीवत पावहु मोख दुआर’ इसलिए अपने मन को उसमें लगाकर एक-मात्र उसी की सेवा करनी चाहिए। काल का महत्त्व स्थापित करते हुए कहा है, कि वह राजा-प्रजा, धनी-निर्धन सभी को एक समान ग्रस लेता है, लेकिन हरि सेवकों का वह भी कुछ नहीं बिगाड़ पाता, क्योंकि वे आवागमन के बन्धन से मुक्त हो चुके होते हैं इस प्रकार हम कह सकते हैं कि गुरु, संत तथा प्रभु की सेवा में निस्वार्थ तथा समर्पण का भाव होना चाहिए तभी वह सेवा फलरूपा है। इससे साधक के हृदय में भक्ति का प्रवाह शुरु होता है तथा उसे हर जगह अपने ईश्वर का स्वरूप और उसकी महिमा दिखाई देती है।

2 भक्ति आन्दोलन का उद्भव एवं विकास : —

भक्ति आन्दोलन—एक विवेचन— भक्ति आन्दोलन का प्रारम्भ आलवारों से माना जाता है क्योंकि “सुदूर दक्षिण में आलवार भक्तों में भक्तिपूर्ण उपासना पद्धति वर्तमान थी। आलवार बारह बताये जाते हैं, जिनमें कम से कम नौ तो ऐतिहासिक व्यक्ति हैं ही। इनमें आण्डाल नाम की एक महिला भी थी। इनमें से अनेक भक्त उन जातियों में उत्पन्न हुए थे जिन्हें अस्पृश्य कहा जाता है।”¹¹⁹ अस्पृश्य का अर्थ है जिसको छुआ न जाये लेकिन आलवारों ने अपनी उच्च भक्ति से समाज में व्याप्त अस्पृश्यता का अंत कर दिया। “पाँचवी शताब्दी से लेकर नवीं शताब्दी तक तमिलनाडु भक्ति आन्दोलन का प्रमुख स्रोत रहा। आलवार संतों की कीर्ति सारे भारत में फैल गई। कश्मीर में ललदेद, तमिलनाडु में आन्दाल, बंगाल में चण्डीदास, गुजरात में नरसी मेहता— भारत के विभिन्न प्रदेशों में भक्त कवि लगभग डेढ़ हजार वर्ष तक जनता के हृदय को अपनी अमृतवाणी से सींचते रहे।”¹²⁰ इस प्रकार आलवारों की कीर्ति सारे भारत में फैल गई। आलवारों से होती हुई भक्ति (दक्षिण से) उत्तर, पूर्व व पश्चिम सभी दिशाओं में फैल गई। दक्षिण से (आलवारों से) होती हुई भक्ति उत्तर में पहुँची जहाँ रामानन्द और उनके शिष्य कबीर द्वारा इसे प्रतिष्ठित किया गया। इस बात को हम सहर्ष कह सकते हैं कि “वैष्णव मत में भक्ति की जो प्रधानता है वह मुख्यतः द्राविड़ों की देन है। जिसे आज भी संत—महात्मा बड़ी ही श्रद्धा से याद करते हैं—

भक्ति द्राविड़ ऊपजी लाए रामानंद ।

परगट किया कबीर ने सप्त द्वीप नवखंड ।।’

उत्तर भारत में जब वैष्णव भक्तों का जमाना आया उसके पहले ही दक्षिण के आलवार संतों में भक्ति का बहुत कुछ विकास हो चुका था और वहीं से भक्ति की लहर उत्तर भारत में पहुँची।”¹²¹ आलवारों की भक्ति को रामानंद ने उत्तर भारत में फैलाया तथा समाज में व्याप्त वर्ण—व्यवस्था तथा अस्पृश्यता का अंत कर भक्ति को जन—जन तक पहुँचाया। रामानंद ईश्वर की आराधना में सबके लिए समानता के समर्थक थे। “क्रमशः भक्ति का प्रवाह ऐसा विकसित और प्रबल होता गया कि उसकी लपेट में केवल हिन्दू जनता ही नहीं, देश में बसने वाले सहृदय मुसलमानों

में से भी न जाने कितने आ गए। प्रेम स्वरूप ईश्वर को सामने लाकर भक्त कवियों ने हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों को मनुष्य के सामान्य रूप में दिखाया और भेद-भाव के दृश्यों को हटाकर पीछे कर दिया।¹²² इस प्रकार आलवारों ने अपने कर्मों से समाज में व्याप्त वर्ण-व्यवस्था को दूर कर सामाजिक परिवर्तन किया। उन्होंने भक्ति के द्वार सबके लिए खोल दिए। वे विष्णु के सच्चे उपासक थे। उन्होंने अहिंसा की स्थापना की। दया, करुणा भाव आदि को अपने हृदय में प्रश्रय दिया। नारी को महत्त्व दिया तथा अस्पृश्यता का अंत किया। इस प्रकार आलवारों ने अपनी उच्च भक्ति से समाज का परिदृश्य ही बदल दिया। उसी भक्ति को उत्तर भारत में रामानंद ने फैलाकर तथा कबीर आदि उनके शिष्यों ने जन-जन के लिए सुलभ कर दिया। "इसका कारण यह था कि आलवारों में से अनेक शूद्र-वंश के थे और शूद्र कुलोत्पन्न होने पर भी जनता उन्हें पूज रही थी। ऐसे में रामानुजाचार्य यह कैसे कह सकते थे कि शूद्रों को वैष्णव होने का अधिकार नहीं है? अधिकार तो उन्होंने दिया, किन्तु प्रपत्ति को उन्होंने शूद्र भक्तों के लिए विशेष रूप से विहित किया। यह वर्णाश्रम धर्म और वृहत् मानवतावाद के बीच एक प्रकार का समझौता था। जिसका पालना रामानुज-परम्परा के अन्य संत विशेषतः रामानंद और तुलसी ने भी किया है।"¹²³ इस प्रकार भक्ति की लहर दक्षिण से होती हुई उत्तर में पूर्ण पल्लवित हुई तथा उसे पल्लवित करने का श्रेय रामानंद व उनके शिष्य कबीर को है। इस प्रकार वैष्णव धर्म के विकास में आलवारों का बहुत योगदान है। "ये आलवार संत मिथ्या वर्ण-व्यवस्था में विश्वास नहीं करते थे। वे स्वयं भी विविध सामाजिक स्तरों से सम्बन्धित थे। नम्मालवार तो जाति से शूद्र थे किन्तु फिर भी आलवारों में उनकी बड़ी प्रतिष्ठा थी। आलवार संतों की सबसे प्रमुख विशेषता उनकी भक्ति-भावना है। उनकी भक्ति में भावों की एक विचित्र तीव्रता, समर्पण की एक अनोखी लालसा पाई जाती है।"¹²⁴ आलवारों ने भक्ति में सेवक भाव को महत्त्व दिया था। ये लोग ईश्वर की कृपा में दृढ़ विश्वास रखते थे। आलवारों का कहना था कि भगवान के दरबार में जाति-पाँति का कोई भेद-भाव नहीं होता। वहाँ पर तो केवल भक्तिमय हृदय की आवश्यकता होती है। भगवान् को सच्चे हृदय से प्राप्त किया जा सकता है। आलवारों ने अपने जीवन में यह कर दिखाया। "दक्षिण भारत के तमिल प्रांत को अपने भक्तिमय पदों तथा गायनों से आनन्द विभोर बनाने वाले वैष्णव संतों का नाम

‘आलवार’ है। ‘आलवार’ शब्द तमिल भाषा का शब्द है जिसका अर्थ अध्यात्म ज्ञान रूपी समुद्र में गहरा गोता लगाने वाला पुरुष होता है। ये संत भगवान् नारायण के सच्चे भक्त थे। इन्होंने अपनी मातृभाषा तमिल में भक्तिरस से आप्लावित सहस्रों पदों की रचना कर साधारण जनता में भगवद् भक्ति का प्रचुर प्रचार किया। प्रसिद्ध आलवारों में अनेक नीच जाति के पुरुष थे। सुनते हैं सबसे प्रसिद्ध नम्मालवार (शठकोपाचार्य) अछूत जाति के थे ‘तिरुमंगै’ आलवार जाति से नीच और कर्म से बड़े भारी डाकू थे। गोदा या आण्डाल स्त्री थी। भगवान् के दरबार में जाति पाँति का आदर नहीं होता, वहाँ पहुँचने में केवल भक्तिमय हृदय की आवश्यकता होती है। आलवारों ने अपने जीवन से इस सत्य को यथार्थ प्रमाणित कर दिया। आलवार संख्या में बारह माने जाते हैं। इनकी स्तुतियों का संग्रह नालायिर प्रबन्ध (चतुःसहस्र पद्यात्मक) कहा जाता है जो भक्ति, ज्ञान, प्रेम, सौन्दर्य, आनन्द से ओत-प्रोत अध्यात्म ज्ञान का एक अनमोल खजाना है। इनका आविर्भाव काल सप्तम शताब्दी से लेकर नवम शताब्दी तक माना जाता है।¹²⁵ इस प्रकार आलवारों ने जाति-पाँति के भेद को मिटाकर भक्ति को जन-जन तक पहुँचाया तथा अपने कर्मों से सबके प्रेरणा स्रोत बने। इस प्रकार कह सकते हैं कि “हिन्दी साहित्य के इतिहास में भक्ति आन्दोलन का आरम्भ जन आन्दोलन के रूप में हुआ क्योंकि इस आन्दोलन के प्रस्थान बिन्दु पर कबीर की कविता है जिसका सीधा संबंध सामान्य जनता से है।”¹²⁶ अतः हिन्दी भक्ति आन्दोलन का आरम्भ और विकास जनता के बीच हुआ जिससे जहाँ एक ओर जनता के मन का परिष्कार हुआ वहीं दूसरी ओर व्यापक सामाजिक परिवर्तन हुआ। दक्षिण भारत के आलवार भक्तों से उत्पन्न भक्ति आन्दोलन तथा बाद में उत्तरी भारत में पूरे वेग से फैले भक्ति आन्दोलन की भक्ति भावना के विकास के इतिहास की दृष्टि से ठीक यही घटित होता है।

2.1 हिन्दी भक्ति आन्दोलन का उद्भव एवं विकास :-

जगत् शब्द की व्युत्पत्ति—“जगत् (वि.) (स्त्री-ती) (गम्+क्विप् नि. द्वित्वं तुगागमः) हिलने-जुलने वाला जड़गम, सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च-ऋक् १/११५/१, इदं विश्वं जगत्सर्वम जगच्चापि, यद्भवेत्-महा०, (पुं०), वायु, हवा (नपुं०) संसार-जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ रघु.१/१। -सम० अम्बा, अम्बिका दुर्गा,—आत्मन् (पुं०) परमात्मा, आदिजः शिव का विशेषण,—आधारः (1) समय (2) वायु, हवा, —आयुः

—आयुस् (पुं०) हवा—ईशः पतिः विश्व का स्वामी, परमदेव—उद्धारः संसार की मुक्ति, कर्तृ— धातृ (पुं०) सृष्टि का बनाने वाला—चक्षुस, (पु०) सूर्य, —नाथः विश्व का स्वामी,— निवासः (1) परमात्मा (2) विष्णु का विशेषण—जगन्निवाबासो वसुदेवसद्धानिन शि० १/१ (3) सांसारिक आस्तित्व, — प्राणः—बलः हवा, —योनिः 1 परम पुरुष (2) विष्णु का विशेषण (3) शिव की उपाधि (4) ब्रह्मा का विशेषण (निःस्त्री०) पृथ्वी,— वहा पृथ्वी,— साक्षिन् (पुं०) (1) परमात्मा (2) सूर्य।¹²⁷ आचार्य शंकर या अद्वैतवाद के अनुसार जगत् मिथ्या है। जगत् अनन्त नहीं है। जो यह दिखाई दे रहा है, वह अविधा के कारण है। अविधा के नाश होने पर ज्ञानावस्था में आत्मानुभूति होते ही जीव ब्रह्मका तादात्म्य होकर जगत् का विलय हो जाता है। ब्रह्म अधिष्ठान है जगत् अध्यस्त है। जगत् ईश्वर की इच्छा—शक्ति का ही विकास है। जगत् ब्रह्म का विवर्त और माया का परिणाम है। रामानुजाचार्य या विशिष्टाद्वैतवाद या श्री सम्प्रदाय के अनुसार—भारतीय दर्शन के सभी अचार्यों ने शंकराचार्य के सिद्धान्त का तथा मायावाद का जोरदार ढग से खण्डन किया है। जहाँ शंकराचार्य कहते हैं कि जगत् मिथ्या है वहीं रामानुजाचार्य कहते हैं कि जगत् ईश्वर का ही अंश है। ज्ञान शून्य, विकारयुक्त अचित् तत्त्व ही जगत् कहलाता है। ईश्वर जगत् का उपादान, निमित्त एवं सहकारी कारण है। रामानुजाचार्य जगत् को मिथ्या नहीं मानते। जगत् सत्य है। ईश्वर विशेष्य है तथा जगत् विशेषण। मध्वाचार्य या द्वैतवाद या ब्रह्म सम्प्रदाय के अनुसार भी जगत् सत्य है। प्रकृति से जगत् की उत्पत्ति। प्रकृति चेतन आत्मा से भिन्न। निम्बार्काचार्य या द्वैताद्वैतवाद या सनक सम्प्रदाय के अनुसार जगत् ईश्वर की सृष्टि है। ब्रह्म का परिणाम ही जगत् है। ब्रह्म अंशी तथा जगत् अंशमात्र है। जगत् नित्य है। वल्लभाचार्य या शुद्धाद्वैतवाद के अनुसार जगत् को ईश्वरांश मानकर सत्य माना है। जगत् के समस्त पदार्थ ब्रह्म से अभिन्न हैं। जीव में आनन्दांश और जगत् में चिदानन्दांस का तिरोभाव रहता है। ब्रह्म को ही जगत् का कारण माना है। कारण ब्रह्म तथा कार्य जगत् दोनों सत्य है। जगत् ईश्वरकृत है। विद्या माया के द्वारा भगवान् जगत् का निर्माण करते हैं।

जीव शब्द की व्युत्पत्ति— “जीव —(वि.) (जीव्+क) जीवित, विद्यमान, वः 1) जीवन का सिद्धान्त, श्वास, प्राण, आत्मा—, गतजीव, जीवत्याग, जीवाशा आदि 2) वैयक्तिक या व्यक्तिगत रूप से मानव शरीर में रहने वाला आत्मा जो कि इस शरीर को

जीवन , गति तथा संवेदना देता है। ('जीवात्मन्' कहलाता है, विप० 'परमात्मन्' शब्द है) याज्ञ ३/१३१, मनु० १२/२२,२३ ३) जीवन, आस्तित्व ४) जीवधारी प्राणी।"¹²⁸ अद्वैत वेदान्त दर्शन के आचार्य शंकर (शंकराचार्य) के अनुसार जीव और ब्रह्म एक है। जीव अपने स्वरूप के अज्ञान के ही कारण इस संसार में अनन्त क्लेशों को भोगता हुआ अपना जीवनयापन करता है। वह अपने शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव को अविद्या के कारण भूला हुआ है। वह वास्तव में सच्चिदानन्दात्मक ब्रह्म स्वरूप ही है। जीव (आत्मा) तथा ब्रह्म (परमात्मा) में नितान्त ऐक्य है। जो यह दिखाई दे रहा है, वह अविद्या के कारण है। अविद्या के नाश होने पर ज्ञानावस्था में आत्मानुभूति होते ही जीव ब्रह्म का तादात्म्य होकर जगत् का विलय हो जाता है। अविद्या ही इस बन्धन का कारण है। जीव को अपने वास्तविक दिव्य स्वरूप का ज्ञान है, जो अविद्या के कारण आवृत्त रहता है और शरीर सम्पर्क के कारण भिन्न प्रतीत होता है। अविद्या का नाश होते ही मायाकृत उपाधियाँ नष्ट हो जाती हैं और जीव को आत्मा के सहज स्वरूप का ज्ञान हो जाता है। यही मोक्ष है। ज्ञान के अलावा मोक्ष का कोई साधन नहीं है। ब्रह्म ही जीव का वास्तविक स्वरूप है और अपने इस ब्रह्म स्वरूप का साक्षात्कार ही मोक्ष कहलाता है। जीव के ब्रह्म में लय हो जाने की इस अवस्था को शंकराचार्य मुक्ति कहते हैं। ब्रह्म ही मुक्ति अवस्था है। इस प्रकार शंकराचार्य के मत से—जीव (ब्रह्म) अविद्या (माया, जगत् मिथ्या) ब्रह्म (निर्गुण)। जीव व ब्रह्म एक है। अलग दिखने का कारण अविद्या (माया, अज्ञान) तथा ज्ञान होने पर जीव व ब्रह्म एक होकर मोक्ष व मुक्ति तथा जगत् का विलय। भारतीय दर्शन आचार्य शंकर के मत का खंडन करता है। आचार्य रामानुज या विशिष्टाद्वैतवाद या श्री सम्प्रदाय के अनुसार जीव व ब्रह्म एक नहीं होते। ब्रह्म (सगुण, ईश्वर) विशिष्ट होता है तथा चित् (जीव) व अचित् (जगत्) ब्रह्म का अंश मात्र है। जीव व ब्रह्म दोनों ही सत्य है किन्तु दोनों समान रूप से स्वतन्त्र नहीं है। "जीव व परमात्मा का ऐक्य सम्पन्न नहीं होता।"¹²⁹ जीव ब्रह्म से भिन्न उसका अंश मात्र है। ईश्वर, जीव और जगत् तीनों ही सत्य हैं। भक्ति द्वारा जीव को मोक्ष प्राप्त होता है। जीव को ईश्वर का सादृश्य प्राप्त हो जाता है। मोक्ष में भी जीव की सत्ता एवं शक्ति सीमित ही रहती है। इस अवस्था में भी वह ईश्वर के ही अधीन रहता है। ईश्वर (सगुण) नियामक तथा 'विशेष्य' होता है तथा जीव (चित्) तथा जगत्

(अचित्) नियम्य तथा 'विशेषण' कहलाता है। जीव जब तक भगवान् की शरण में नहीं जाता, तब तक उसका परम कल्याण हो नहीं सकता।

ब्रह्म सम्प्रदाय या मध्वाचार्य या द्वैतवाद के अनुसार जीव व ब्रह्म में भेद है। जीव व जीव में भेद है। "जीव तीन प्रकार के होते हैं— मुक्ति योग्य, नित्य संसारी और तमो योग्य। मुक्ति प्राप्त करने के अधिकारी जीव देव, ऋषि, पितृ, चक्रवर्ती तथा उत्तममनुष्यरूप से पाँच प्रकार के होते हैं। नित्य संसारी जीव सदा सुख—दुःख के साथ मिश्रित रहता है और स्वीयक्रमानुसार ऊँच—नीच गति को प्राप्त कर स्वर्ग, नरक तथा भूलोक में विचरण करता है। इस कोटि के जीव 'मध्यम मनुष्य' कहे जाते हैं और वे कभी मुक्ति नहीं पाते। तमोयोग्य जीव चार प्रकार के होते हैं जिनमें दैत्य, राक्षस तथा पिशाचों के साथ अधम मनुष्यों की गणना है। इस प्रकार जीव गुणों के तारतम्य के कारण तीन श्रेणियों में अन्तर्भक्त किया गया है। संसार में प्रत्येक जीव अपना व्यक्तित्व पृथक बनाये रहता है।"¹³⁰ ब्रह्म नित्य एवं स्वतन्त्र है। निम्बार्काचार्य या द्वैताद्वैतवाद या सनक सम्प्रदाय के अनुसार जीव व जगत् ब्रह्म का ही अंशमात्र है। माया अनादि है जीव उसी से आबद्ध है। माया के कारण जीव अनेक क्लेशों को भोगता है। भगवद् अनुग्रह से ही जीव क्लेश—मुक्त हो सकता है। जीव ईश्वर की सृष्टि है। ईश्वर नियन्ता है; जीव नियम्य है। जीव ईश्वर के सदा अधीन है, मुक्त दशा में भी जीव ईश्वर के आश्रित रहता है। ईश्वर अंशी है तथा जीव अंश है। जीव उसका शक्ति रूप है। प्रकृतिरूपिणी माया से आवृत होने के कारण जीव का धर्मभूतज्ञान संकुचित हो जाता है। भगवान् के प्रसाद से जीव के सच्चे स्वरूप का ज्ञान हो सकता है।

वल्लभाचार्य या शुद्धाद्वैतवाद के अनुसार— ब्रह्म माया से रहित एवं विशुद्ध है। आचार्य वल्लभ के विचार से कोई भी पदार्थ नष्ट नहीं होता, केवल उसका रूपांतर होता है। एक रूप से दूसरे रूप में परिणति ही आविर्भाव एवं तिरोभाव का सिद्धान्त है। जगत् के समस्त पदार्थ एवं जीव ब्रह्म से अभिन्न है। जीव व जगत् को ईश्वरांश मानकर सत्य माना है। जीव में आनन्दांश और जगत् में चिदानन्दांश का तिरोभाव रहता है। माया की अविधा नामक शक्ति के द्वारा जीव संसार (मिथ्या) का निर्माण करता है। माया दो प्रकार की होती है— विद्या माया तथा अविद्या माया। विद्या माया के कारण भगवान् जगत् का निर्माण करते हैं तथा जीव अविद्या माया के

कारण संसार का निर्माण करता है। जीव माया धीन है। पुष्टिमार्ग से अविद्या माया से मुक्ति तथा स्वरूप-सेवा को ही सर्वोत्तम मोक्ष कहा है। मोक्ष भक्ति से ही संभव है।

मोक्ष शब्द की व्युत्पत्ति— "मोक्षः (मोक्ष्+घञ्) 1) मुक्ति, छुटकारा, 2) उद्धार 3) परम मुक्ति, आवागमन अर्थात् पुनर्जन्म के चक्कर से आत्मा की मुक्ति, मानव जीवन के चार उद्देश्यों में से अंतिम -दे. अर्थ, भग. ५/२८, १८/३०, रघु. १०/८४, मनु. ६/३५ 4) मृत्यु 5) ढीला करना, खोलना, बंधन-मुक्त करना-वेणिमोक्षोत्सुकानि मेघ. ६६ 6) सम.-उपाय मोक्ष प्राप्त करने का साधन।"¹³¹ आचार्य शंकर (शंकराचार्य) या अद्वैतवाद के अनुसार- ब्रह्म ही जीव का वास्तविक स्वरूप है और अपने इस ब्रह्म स्वरूप का साक्षात्कार ही मोक्ष कहलाता है। जीव के ब्रह्म में लय हो जाने की इस अवस्था को शंकराचार्य मुक्ति कहते हैं। मोक्ष न तो प्राप्य है और न उत्पाद्य। जीव को अपने वास्तविक दिव्य स्वरूप का ज्ञान है, जो अविद्या के कारण आवृत्त रहता है और शरीर सम्पर्क के कारण भिन्न प्रतीत होता है। अविद्या का नाश होते ही मायाकृत उपाधियाँ नष्ट हो जाती हैं और जीव को आत्मा के सहज स्वरूप का ज्ञान हो जाता है। यही मोक्ष है। ज्ञान के अलावा मोक्ष का कोई साधन नहीं है। ब्रह्म ही मुक्ति अवस्था है।

आचार्य रामानुज या (रामानुजाचार्य) या विशिष्टाद्वैतवाद या श्री सम्प्रदाय के अनुसार— परमेश्वर की प्राप्ति को ही जीव का परम पुरुषार्थ अथवा मोक्ष मानते हैं। ज्ञान, भक्ति तथा प्रपत्ति ही मोक्ष के साधन हैं। भक्ति प्रधान ज्ञान तथा कर्म गौण। प्रपत्ति से भक्ति और भक्ति से मोक्ष। जीव को ईश्वर का सादृश्य प्राप्त हो जाता है। मोक्ष में भी जीव की सत्ता एवं शक्ति सीमित ही रहती है। इस अवस्था में भी वह ईश्वर के ही अधीन रहता है। **अद्वैतवाद के अनुसार—** मुक्त आत्मा ब्रह्म के साथ अभिन्नरूप हो जाता है, परन्तु रामानुज के अनुसार वह ईश्वर के 'समान' होता है। "ईश्वर के साथ उसका 'एकात्म्य' सम्पन्न नहीं हो जाता।"¹³² मुक्त अवस्था में भी जीव व ब्रह्म अलग-अलग होते हैं।

मध्वाचार्य या द्वैतवाद या ब्रह्म सम्प्रदाय के अनुसार—जीव मोक्ष के लिए परमात्मा के अधीन रहता है। भगवान् के बिना नैसर्गिक अनुगृह हुए परतन्त्र जीव साधारण कार्यों का भी सम्पादन नहीं कर सकता, मुक्ति की कथा तो दूर ठहरी। अपरोक्ष ज्ञान के

अनन्तर परमभक्ति उत्पन्न होती है और उसके बाद परम अनुग्रह का उदय होता है। तब मोक्ष का जन्म होता है। भक्ति द्वारा मोक्ष हो जाता है।

निम्बार्काचार्य या सनक सम्प्रदाय या द्वैताद्वैतवाद के अनुसार—भगवद् अनुग्रह से ही जीव क्लेश—मुक्त हो सकता है। प्रपत्ति के द्वारा भगवदनुग्रह जीवों पर होता है। अनुग्रह से भगवान् के प्रति नैसर्गिक अनुरागरूपिणी भक्ति का उदय होता है। यह भक्ति भगवत्साक्षात्कार को उत्पन्न करती है जिससे जीव भगवद्भावापन्न होकर समस्त क्लेशों से मुक्त हो जाता है। जीव मुक्त दशा में भी ईश्वर के आश्रित रहता है। जीव और ब्रह्म में भेदाभेद सम्बन्ध स्वाभाविक और प्रत्येक दशा में नियत है। मोक्ष की दशा में भी।

वल्लभाचार्य या शुद्धाद्वैतवाद के अनुसार— वल्लभाचार्य ने स्वरूप—सेवा को ही सर्वोत्तम मोक्ष कहा है। पुष्टि मार्ग के द्वारा जीव पर से अविद्या माया का प्रभाव हट जाता है और भक्ति से जीव को मोक्ष की प्राप्ति होती है।

“महात्मा कबीर मोक्ष को पूर्ण मुक्तावस्था मानते हैं। उनका विश्वास है कि मोक्ष की दशा में सब प्रकार के बन्धन, यहाँ तक जन्म मरण के बन्धन भी मुक्तात्मा को अभिभूत नहीं कर पाते हैं। मुक्तात्मा के सम्बन्ध में उनकी यह भी धारणा है कि सब प्रकार के बन्धनों से निर्बन्ध होकर मुक्त आत्म अविनाशी स्वरूप अर्थात् शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, ब्रह्म स्वरूप हो जाती है। यह परम पद की अवस्था है।”¹³³ जीव और ब्रह्म की एकाकार की अवस्था की दृष्टि से कबीर को हम पूर्ण अद्वैती कह सकते हैं उन्होंने बार बार विविध दृष्टान्तों से तथा वैसे भी जीव और ब्रह्म का तादात्म्य ध्वनित किया है। कबीर कहते हैं—

“जल मैं कुंभ कुंभ मैं जल है, बाहरि भीतरि पानी।

फूटा कुंभ जल जलहि समानां, यहु तत कथौ गियानी।”¹³⁴

जीव व ब्रह्म एक है। माया के कारण भेद तथा माया के हटते ही जीव व ब्रह्म का एकाकार होना। “मुमुक्षु की दृष्टि से मोक्ष जीवात्मा का परमात्मा में घुल—मिलकर एकाकार हो जाना है। इस मिलन में भेद—ज्ञान जरा भी नहीं रहता।”¹³⁵ कबीर मोक्ष को परमानन्द की अवस्था कहते हैं जिसमें मनुष्य का लौकिक अंश जो अज्ञानावस्था में प्रधान रहता है, किसी गिनती में नहीं रह जाता; उसे अपने में अंतर्हित आत्मतत्त्व का ज्ञान हो जाता है और उस ब्रह्म के साथ तादात्म्य की

अनुभूति हो जाती है। इसी को कबीर साक्षात्कार होना कहते हैं। यह साक्षात्कार हो जाने पर, अर्थात् ब्रह्म ज्ञान की प्राप्ति होने पर, मनुष्य ब्रह्म ही हो जाता है। कबीर कहते हैं कि मनुष्य की आत्मा ब्रह्म के साथ एक है और ब्रह्म ही एकमात्र चिरस्थायी सत्ता है। जिसका नाश नहीं हो सकता अतएव मनुष्य की आत्मा का भी नाश नहीं हो सकता। जीव व ब्रह्म एक है केवल माया (अज्ञान) के कारण अलग-अलग प्रतीत होते हैं। माया के नानात्मक बन्धन टूटते ही जीव व ब्रह्म का तादात्म्य हो जाता है। यही मोक्ष है। यही मुक्ति है। राम कुमार वर्मा के शब्दों में "आत्मा उस दिव्य शक्ति से इस प्रकार मिल जाती है कि आत्मा में परमात्मा के गुणों का प्रदर्शन होने लगता है और परमात्मा में आत्मा के गुणों का प्रदर्शन।"¹³⁶ इस प्रकार आत्मा व परमात्मा का एक हो जाना ही मोक्ष है। यह संसार दुख रूप है और मोक्ष ब्रह्म स्वरूप ही है। "मनुष्य का सबसे बड़ा लक्ष्य या पुरुषार्थ मोक्ष है,—मोक्ष अर्थात् छुटकारा।"¹³⁷ मनुष्य जब जन्म लेकर इस संसार में आता है तो उसे यह संसार सत्य प्रतीत होता है। वह माया के आवरण से लिप्त हो जाता है जब उसे भगवद् अनुग्रह से भक्ति प्राप्त होती है तो उसके सब मायावी बन्धन टूटने लगते हैं तथा संसार जो उसे सत्य लग रहा था, वही अब उसे मिथ्या प्रतीत होता है तथा जीव ईश्वरमय हो जाता है। इस प्रकार मायावी बन्धनों का छुटकारा ही मोक्ष है। मोक्ष की अवस्था में जीव ब्रह्ममय हो जाता है।

2.2 भक्ति के प्रकार :-

भक्ति दो प्रकार की होती है— (1) वैद्यी अथवा गौणी भक्ति तथा रागात्मिका अथवा अहेतुकी भक्ति। विधि विधानमयी शास्त्र मर्यादा पूर्ण भक्ति पद्धति को वैद्यी भक्ति कहते हैं। इसमें भक्त शास्त्रोक्त कर्मों का विधि पूर्वक सम्पादन करते हुए भगवद् उपासना करता है। "उपासक, उपास्य, पूजा-दृव्य, पूजा-विधि और मंत्र-जप ये वैद्यी भक्ति के पाँच अंग हैं।"¹³⁸ वैद्यी भक्ति रागात्मिका भक्ति तक पहुँचने का सोपान है। यथार्थ में वैद्यी अथवा गौणी भक्ति निम्न कोटी की भक्ति है किन्तु मन्द एवं अल्प श्रद्धा वाले प्रारम्भिक साधकों के लिए यह सर्वथा समीचीन एवं समुपयुक्त है। इससे साधकों के अन्तःकरण में विश्वास की दृढ़ता उत्पन्न होती है और आस्तिक्य भावों की अभिवृद्धि होती है। साधक अपनी सांसारिक कामनाओं की पूर्ति के अभिप्राय से

तीर्थ—यात्रा, व्रत, उपवास आदि बाह्य विधानों में संलग्न रहता है। यह गौणी भक्ति सकारण, सहेतुक एवं स्वार्थमय होती है। इस भक्ति का वास्तविक उद्देश्य रागात्मिका भक्ति की प्राप्ति है। गौणी भक्ति का अभ्यास करते—करते अन्ततः मनुष्य रागात्मिका या अहेतुकी भक्ति को प्राप्त कर लेता है। वस्तुतः यह गौणी भक्ति रागात्मिका भक्ति की पराकाष्ठा पर प्रतिष्ठित करने के निमित्त एक माध्यम है। यह उस उत्कृष्ट भक्ति तक पहुँचने के लिए सीढियों के सदृश सहारा का काम करती है। इस प्रकार गौणी भक्ति कर्म—काण्डों वाली होती है तथा रागानुगा भक्ति में प्रभु का प्रेम प्राप्त करना इसका लक्ष्य है। इस लक्ष्य को प्राप्त कर लेने के बाद और कुछ प्राप्त करना शेष नहीं रहता। यही परा भक्ति या रागानुगा की अवस्था है। श्रीरूपगोस्वामी ने भक्ति रसामृत नामक ग्रंथ में भक्ति के दो भेद किये हैं।

“वैधी रागानुगा चेति सा द्विधा साधनाभिधा”¹³⁹

अर्थात् वह साधन—नामिका भक्ति दो प्रकार की है, वैधी और रागानुगा वैधी भक्ति या गौणी भक्ति सकारण, सहेतुक एवं स्वार्थमय होती है। इस भक्ति की सहायता से रागानुगा भक्ति की प्राप्ति होती है।

“यत्र रागानवाप्त्वात् प्रवृत्तिरुपजायते।

शासनेनैव शास्त्रस्य सा वैधीभक्तिरुच्यते।।”¹⁴⁰

अर्थात् जहाँ राग की प्राप्ति न होने के कारण शास्त्र के शासन से ही प्रवृत्ति होती है, वह वैधी भक्ति कहलाती है। वैधी भक्ति के गुणों के आधार पर सात्विक, राजसी और तामसी तीन भेद होते हैं। इन तीनों प्रकारों में भक्त भगवान् से कुछ न कुछ कामना रखता है लेकिन ‘निर्गुणी भक्ति’ या ‘रागानुगा’ या ‘परा’ या ‘मुख्या’ भक्ति में भक्त केवल भगवान् से प्रेम करता है कोई इच्छा, कामना आदि नहीं होती है। भगवान् के चरणों में स्वाभाविक प्रेम से जो भक्त भजन में प्रवृत्ति होती है, उसे रागात्मिका या अहेतुकी भक्ति कहते हैं। वस्तुतः भाव प्रवाह पूर्ण सच्ची भक्ति ही रागात्मिका/रागानुगा/अहेतुकी भक्ति है। इस भक्ति की प्राप्ति के निमित्त साधक के अन्तःकरण में पर्याप्त एवं तीव्र श्रद्धा अपेक्षित है। इस कोटि के भक्त बाह्य—विधि—विधानों का अत्यंत अल्प परिमाण में अवलंबन ग्रहण किया करते हैं और प्रायः परम पिता परमेश्वर के प्रेमोन्माद में विधि—निषेध की परीधि एवं मर्यादाओं का अतिक्रमण करते रहते हैं।

भक्ति के प्रकार—भागवत पुराण में दो प्रकार की भक्ति पायी जाती है। (1) वैद्वी भक्ति (2) रागात्मिका भक्ति।

वैद्वी भक्ति— इसे गौणी भक्ति भी कहते हैं। यह गुणों के आधार पर सात्त्विक, राजसी और तामसी तीन प्रकार की होती है। वैद्वी भक्ति रागात्मिका भक्ति तक पहुँचने का सोपान है। श्रीमद्भागवत में वैद्वी भक्ति के प्रकारों का वर्णन इस प्रकार है—

“अभिसन्धाय यो हिंसां दम्भं मात्सर्यमेव वा।

संरम्भी भिन्नदृग्भावं मयि कुर्यात्स तामसः।।”¹⁴¹

अर्थात् जो भेद दर्शी क्रोधी पुरुष हृदय में हिंसा दम्भ अथवा मात्सर्यका भाव रख कर मुझसे प्रेम करता है, वह मेरा तामस भक्त है।

“विषयानभिसन्धाय यश ऐश्वर्यमेव वा।

अर्चादावर्चयेद्यो मां पृथग्भावः स राजसः।।”¹⁴²

अर्थात् जो पुरुष विषय, यश और ऐश्वर्य की कामना से प्रतिमादि में मेरा भेदभाव से पूजन करता है, वह राजस भक्त है।

“कर्मनिर्हारमुद्दिश्य परस्मिन् वा तदर्पणम्।

यजेघष्टव्यमिति वा पृथग्भावः स सात्त्विकः।।”¹⁴³

अर्थात् जो व्यक्ति पापों का क्षय करने के लिये, परमात्मा को अर्पण करने के लिये और पूजन करना कर्तव्य है—इस बुद्धि से मेरा भेदभाव से पूजन करता है, वह सात्त्विक भक्त है।

“मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये।

मनोगतिरविच्छन्ना यथा गंगाम्भसोऽम्बुधौ।।

लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम्।

अहेतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे।।”¹⁴⁴

अर्थात् जिस प्रकार गंगा का प्रवाह अखंड रूप से समुद्र की ओर बहता रहता है, उसी प्रकार मेरे गुणों के श्रवण मात्र से मनकी गति का तैलधारावत् अविच्छिन्न रूप से मुझ सर्वान्तर्यामी के प्रति हो जाना तथा मुझ पुरुषोत्तम में निष्काम और अनन्य प्रेम होना— यह निर्गुण भक्ति योग का लक्षण कहा गया है। ‘निर्गुणी’ भक्ति को ‘अहेतुकी’ भक्ति या ‘रागात्मिका’ या ‘परा’ भक्ति भी कहते हैं। इस निर्गुण भक्ति को ही शांडिल्य मुख्या भक्ति कहते हैं तथा नारद भी मुख्य भक्ति ही कहते हैं।

“गुणरहितं कामना रहितं प्रतिक्षणवर्द्धमानमविच्छिन्नं सूक्ष्मतरमनुभवरूपम्।”¹⁴⁵

अर्थात् गुणों से हीन, कामनाहीन, क्षण क्षण में बढ़ने वाला विच्छेद रहित अतिसूक्ष्म अनुभव स्वरूप है। नारद कहते हैं कि मुख्य भक्ति वह है जिसमें भगवत्प्रेम सूक्ष्म से भी सूक्ष्म और अनुभव स्वरूप है। प्रेम की धारा अनन्त परमेश्वर की ओर को अटूट प्रवाह से निरन्तर बहती है, उसमें किसी सांसारिक दुख आदि की बाधा, विच्छेद वा विराम नहीं होता, क्योंकि वह गुणों के सम्पर्क से शून्य और कामना रहित होता है। नारद के अनुसार भक्ति दो प्रकार की है—मुख्या यानि रागात्मिका भक्ति तथा गौणी यानी वैद्यी भक्ति। ज्ञानी या निर्गुण भक्त की अनुभव की हुई भक्ति मुख्या है तथा गौणी या वैद्यी भक्ति तीन प्रकार की है—

“गौणी त्रिधा गुणभेदादात्तादिभेदाद्वा”¹⁴⁶

गौणी भक्ति सत्त्व—रजः—तमः इन गुणों के कारण सात्त्विकी, राजसी और तामसी ऐसे तीन प्रकार की है। गौणी भक्ति में भक्त भगवान् से कामना रखता है। सकाम भक्ति से ईश्वर प्रसन्न नहीं होते। अतः गौणी भक्ति निम्न कोटी की भक्ति है। क्योंकि भक्ति साधन नहीं है। भक्ति तो अपने आप में साध्य है। नारद ने स्पष्ट कहा है कि भक्ति को प्राप्त करके मनुष्य सिद्ध, तृप्त एवं अमर हो जाता है। फिर उसे न शोक रहता है, न द्वेष और न ही कोई कामना।

“यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवत्यमृतो भवति तृप्तो भवति।।

यत्प्राप्य न किञ्चिद्वाञ्छति न शोचति न द्वेष्टि न रमते नोत्साही भवति।।”¹⁴⁷

इस प्रकार भक्ति अपना फल स्वयं है। किसी भी कामना की पूर्ति के लिए इसका उपयोग नहीं किया जा सकता क्योंकि कामना से भक्ति क्लुषित हो जाती है। कबीर ने तो यहाँ तक कहा है कि शरीर जब तक सकाम रहता है तब तक दास्या भक्ति निष्फल रहती है। “जब तक भगति सकामता तब तक निष्फल सेव”¹⁴⁸ निष्काम निर्गुण भक्ति से ही जीव को मुक्ति मिलती है। जब भक्त सब कामनाओं से रहित होकर पूर्ण शान्ति की अवस्था को पहुँचता है—तब ईश्वर के परम प्रेम में निमग्न होता है। भक्त की इस अवस्था को परा भक्ति कहते हैं। नारद ने लिखा है—

“तत्प्राप्य तदेवावलोकयति तदेव शृणोति तदेव चिन्तयति।”¹⁴⁹

अर्थात् उसको पाकर भक्त केवल उसको ही देखता है उसको ही सुनता है, उसको ही विचारता है। प्रेमी के सामने प्रेममय भगवान् का स्वरूप और प्रेम का स्वरूप एक

ही पदार्थ है। जिन्होंने प्रेम को पा लिया उन्होंने भगवान् को पा लिया, इस कारण उनको फिर प्रेम स्वरूप भगवान् के सिवाय और किसी को देखने, सुनने वा विचारने की इच्छा नहीं रहती है। प्रेम का स्वरूप अनिर्वचनीय है। उसका अनुभवकर्त्ता उसके रस का वर्णन ठीक उसी प्रकार नहीं कर पाता है जिस प्रकार गूँगा गुड़ के स्वाद का वर्णन नहीं कर सकता। इस प्रकार अनिर्वचनीय प्रेम किसी विरले ही परम योग्य शुद्ध प्रेमी भक्त में ही प्रकट होता है। यह प्रेम तीनों गुणों से परे रहता है। इसमें किसी प्रकार की कामना का स्पर्श नहीं होता। इसका अटूट प्रवाह बना रहता है। यह अति सूक्ष्म और केवल अनुभवगम्य मात्र है। भक्त इस प्रेम को प्राप्त कर उसी को देखता है, उसी को सुनता है और उसी का चिन्तन करता है। यह प्रेम लक्षणाभक्ति हुई। नारद ने लिखा है—

“अनिर्वचनियं प्रेम स्वरूपम् ॥ मूकास्वादनवत् ॥ प्रकाश्यते क्वापि पात्रे ॥”¹⁵⁰

जिस प्रेम की सहायता से परम कल्याण होता है उस प्रेम का स्वरूप वाणी से नहीं कहा जा सकता, उसको तो प्रेमी ही जानते हैं। “प्रेम करते—करते प्रेम में ही वह आनन्द आने लगता है कि फिर प्रेम पात्र की आवश्यकता ही नहीं रह जाती। इस लिए सच्चा भक्त केवल भक्ति के आनन्द के लिये भक्ति करता है। उसके सामने न तो कामना पूर्ति का सवाल उठता है और न प्रेम पात्र को अपनाने का।”¹⁵¹ भक्त विकार शुन्य होकर केवल अपने आनन्द के लिए भक्ति करता है। निर्गुण भक्ति की सबसे बड़ी विशेषता ही निष्कामता है। कामना होगी तो वह गौणी भक्ति है और निष्काम निर्गुण भक्ति से जीवन काल में जीवन—मुक्ति और शरीर त्यागने पर मुक्ति मिलती है। कबीर ने लिखा है—

“कहत कबीर जो हरि ध्यावे जीवन बन्धन तोरे ॥”¹⁵²

इस प्रकार इस निर्गुण भक्ति के उदय होते ही साधक पर अद्वितीय शान्ति और शीतलता की वर्षा होने लगती है। भागवत की निर्गुण भक्ति के समान कबीर की भक्ति भी त्रिगुणातीत है। त्रिगुण का प्रपंच तो सब माया ही है।

“रज गुण तम गुण सत गुण कहिए, यह सब तेरी माया ॥”¹⁵³

इन त्रिगुणों से ऊपर उठने पर चौथे पद में भगवान् की प्राप्ति होती है। यही ‘निर्गुण’ या ‘परा’ या ‘रागानुगा’ भक्ति की अवस्था है। इसी अवस्था में पहुँच कर भक्त अभिनव जीवन प्राप्त करता है। कबीर ने लिखा है—

“चौथे पद को जो नर चीन्है तिनहिं परम पद पाया।”¹⁵⁴

इस प्रकार कबीर ने यही कहा है कि त्रिगुणातीत अवस्था में पहुँच कर भक्त जीवन लाभ करता है। इस त्रिगुणातीत अवस्था में पहुँचा हुआ भक्त द्वन्द्वातीत और समदर्शी हो जाता है। उसके कृत कर्म नष्ट हो जाते हैं और उसका उद्धार हो जाता है। ऐसे ही निर्गुण भक्त के सम्बन्ध में नारद भक्ति सूत्र में कहा है—

“योवेदोनपि संन्यसति केवलमविच्छिन्नुरागं लभते।”¹⁵⁵

अर्थात् जो वेदोक्त मर्यादा को भी त्यागता है एक मात्र निरन्तर प्रेम का पाता है। इस प्रकार वह वेदों की भी उपेक्षा कर केवल अखंड भगवत् प्रेम का ही लाभ करता है। वह स्वयं तर जाता है और लोकों को भी तार देता है। श्री रूपगोस्वामी ने ‘भक्ति रसामृत’ नामक ग्रन्थ में रागानुगा भक्ति के बारे में लिखते हैं कि

“विराजन्तीमभिव्यक्तं ब्रजवासिजनादिषु रागात्मिकामनुसृता या सा रागानुगोच्यते।”¹⁵⁶

अर्थात् ब्रजवासियों आदि में जो स्पष्ट रूप से विराजती है, उस रागात्मिका भक्ति का जो अनुसरण करती है, वह रागानुगा कहलाती है। रागानुगा भक्ति की अवस्था में भक्त भगवान् से कुछ भी नहीं चाहता। वह तो केवल भक्ति के आनन्द के लिए भक्ति करता है वह तो मोक्ष या मुक्ति को भी इस आनन्द के आगे कुछ नहीं समझता। इस प्रकार की रागानुगा या ‘परा’ या ‘मुख्या’ या ‘निर्गुण’ भक्ति में निमग्न भक्त भगवत् सेवा के अतिरिक्त और कुछ नहीं चाहता है। वह सालोक्य सार्ष्टि, सामीप्य, सारूप्य, सायुज्य मुक्तियों को देने पर भी ग्रहण नहीं करता। श्री मद्भागवत के अनुसार—

“सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत।

दीयमानं न गृह्वन्ति विना मत्सेवनं जनाः।”¹⁵⁷

अर्थात् ऐसे निष्काम भक्त, दिये जाने पर भी, मेरी सेवा को छोड़कर सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य मोक्ष तक नहीं लेते। भगवत् सेवा के लिये मुक्ति का तिरस्कार करने वाला यह भक्तियोग ही परम पुरुषार्थ अथवा साध्य कहा गया है। इसके द्वारा भक्त विकारों से रहित होकर केवल अपने ईश्वर को चाहता है तथा भक्ति करता हुआ ईश्वरमय हो जाता है।

“स एव भक्तियोगाख्य आत्यन्तिक उदाहृतः येनातिव्रज्य त्रिगुणं मद्भावायोपपद्यते”¹⁵⁸

अर्थात् इसके द्वारा पुरुष तीनों गुणों को लॉघकर मेरे भाव को—मेरे प्रेम रूप अप्राकृत स्वरूप को प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार रागानुगा या पराभक्ति में निमग्न भक्त भगवानन्द के अतिरिक्त और कुछ नहीं चाहता। महर्षि शांडिल्य ने भक्ति में मुख्या और गौणी नाम के भेद किये हैं। शांडिल्य की मुख्या भक्ति ही भागवत की अहेतुकी भक्ति है। मुख्या भक्ति को ही रागानुगा/निर्गुण/परा भक्ति कहते हैं। जिसे पाकर और कुछ पाना शेष नहीं रहता है।

“सा परानुरक्तिरीश्रवरे”¹⁵⁹

जो भक्ति ईश्वर के प्रति परम अनुरागरूपा हो उसे ही पराभक्ति या रागानुगा भक्ति कहते हैं। रागानुगा या मुख्या भक्ति तक पहुँचने के लिए गौणी भक्ति एक सोपान का कार्य करती है। शांडिल्य गौणी भक्ति के तीन भेद मानते हैं—

“गौणं, त्रैविध्यमितरेण स्तुत्यर्थत्वात् साहचर्यम्।”¹⁶⁰

अर्थात् गौण भक्ति के तीन भेद हैं— आर्त—भक्ति, जिज्ञासा—भक्ति, अर्थार्थिता—भक्ति। ज्ञान—भक्ति तो पराभक्ति रूप है; उसके साथ पूर्वोक्त तीन भक्तियों का उल्लेख उनकी स्तुति (प्रशंसा) के लिये किया गया है। इस प्रकार कह सकते हैं कि गौणी या वैद्यी भक्ति में तो जो कामना या अनुराग होता है वह सांसारिक होता है तथा रागानुगा या मुख्या या पराभक्ति में जो अनुराग की पराकाष्ठा होती है वह केवल और केवल भगवान् के प्रति होती है। भक्त को केवल अपने आराध्य से प्रेम होता है क्योंकि उसे हर जगह अपने ईश्वर का स्वरूप और उसकी महिमा दिखाई देती है। भक्त केवल अपने ईश्वर के प्रति पूर्ण समर्पित होता है। उसमें अनुराग का प्राबल्य होता है और वह प्रबल अनुराग का समर्पण अपने आराध्य के प्रति करता है। संसार की सभी वस्तुएँ नश्वर हैं, उन्हें प्राप्त करने के लिए जो भक्ति की जाती है वह वैद्यी या गौणी भक्ति कहलाती है। जब प्राप्त होने वाली वस्तुएँ असत्य हैं तो भक्ति भी निम्न कोटी की ही होगी। इस संसार में कुछ भी पूर्ण नहीं है। अगर कुछ पूर्ण है तो केवल ईश्वर। ईश्वर को प्राप्त करने के लिए जो भक्ति की जाती है वह रागानुगा या परा या मुख्या भक्ति कहलाती है। इस प्रकार पराभक्ति सर्वोत्कृष्ट कही गई है।

3 भक्ति के अंगः—

षड्विद्या—शरणागति— अहिर्बुध्न्यसंहिता के अनुसार प्रपत्ति (शरणागति) के छः प्रकार होते हैं—

“षोढा हि वेदविदुषो वदन्त्येनं महामुने ।।27 ।।

आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम् ।

रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्ववरणं तथा

आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः ।।28 ।।”¹⁶¹

इस प्रकार अहिर्बुध्न्यसंहिता के अनुसार प्रपत्ति के छह अंग हैं जो निम्न प्रकार हैं—

- (1) भगवान् के अनुकूल आचरण करना (2) भगवान् के प्रतिकूल आचरणों का निषेध (3) भगवान् की रक्षा में विश्वास रखना (4) एकान्त में भगवान् को आत्मसमर्पण करना (5) सर्वतोमुखी आत्मसमर्पण (6) अपनी असमर्थता का अनुभव करना ।

भक्ति का पहला अंग है— अनुकूलता का संकल्प—

भगवद्भक्ति प्राप्त्यर्थ अनुकूल वातावरण में रहने की निश्चित धारणा अनुकूलता का संकल्प है । भक्त वही कार्य करता है जो उसके भगवान् को अच्छे लगते हैं । भक्त सांसारिक कार्यों को छोड़कर केवल अपने आराध्य से प्रेम करता है । भक्त का एक ही लक्ष्य होता है भगवान् की शरण में जाना इसके लिए वह भगवान् के अनुकूल ही कार्य करता है तथा वही कार्य करता है जिससे भगवान् के चरणों में स्थान मिले । भक्त प्रेमपूर्वक अपने आराध्य की सेवा करता है, यही सच्ची भक्ति है । श्रीमद्भागवत के अनुसार—

“अथ विश्वेश विश्वात्मन् विश्वमूर्ते स्वकेषु मे ।

स्नेहपाशमिमं छिन्धि दृढं पाण्डुषु वृष्णिषु ।।

त्वयि मेडनन्यविषया मतिर्मधुपतेडसकृत् ।

रतिमुद्वहतादद्धा गङ्गे— वौधमुदन्वति ।।”¹⁶²

अर्थात् आप विश्व के स्वामी हैं, विश्व के आत्मा हैं और विश्वरूप हैं । यदुवंशियों और पाण्डवों में मेरी बड़ी ममता हो गयी है । आप कृपा करके स्वजनों के साथ जोड़े हुए इस स्नेह की दृढ़ फांसी को काट दीजिये । श्री कृष्ण! जैसे गंगा की अखण्ड धारा

समुद्र में गिरती रहती है, वैसे ही मेरी बुद्धि किसी दूसरी ओर न जाकर आपसे ही निरन्तर प्रेम करती रहे। इसी प्रकार अनुकूलता का अन्य उदाहरण निम्न हैं

“पुनश्च भूयाद्भगवत्यनन्ते रतिः प्रसङ्गश्च तदाश्रयेषु।

महत्सु यां यामुपयामि सृष्टिं मैत्र्यस्तु सर्वत्र नमो द्विजेभ्यः।।”¹⁶³

अर्थात् मैं आप ब्राह्मणों के चरणों में प्रणाम करके पुनः यही प्रार्थना करता हूँ कि मुझे कर्मवश चाहे जिस योनि में जन्म लेना पड़े, भगवान् श्रीकृष्ण के चरणों में मेरा अनुराग हो, उनके चरणाश्रित महात्माओं से विशेष प्रीति हो और जगत् के समस्त प्राणियों के प्रति मेरी एक-सी मैत्री रहे। ऐसा आप अशीर्वाद दीजिये। इस प्रकार भक्त केवल अपने भगवान् से प्रेम करता है तथा उनके चरणों में शरण चाहता है। भक्त अपने आराध्य से कहता है कि हे प्रभु मुझे इस सांसारिक माया से बाहर निकालो तथा अपने चरणों में शरण दो।

“न कामयेऽन्यं तव पादसेवना—दकिञ्चनप्रार्थ्यतमाद् वरं विभो।

आराध्य कस्त्वां ह्यपवर्गदं हरे व्रणीत आर्यो वरमात्मबन्धनम्।।

तस्माद् विसृज्याशिष ईश सर्वतो रजस्तमः सत्त्वगुणानुबन्धनाः।

निरंजनं निर्गुणमद्वयं परं त्वां ज्ञप्तिमात्रं पुरुषं व्रजाम्यहम्।।”¹⁶⁴

अर्थात् अन्तर्यामी प्रभो! आपसे क्या छिपा है? मैं आपके चरणों की सेवा के अतिरिक्त और कोई भी वर नहीं चाहता; क्योंकि जिनके पास किसी प्रकार का संग्रह— परिग्रह नहीं है अथवा जो उसके अभिमान से रहित हैं, वे लोग भी केवल उसी के लिये प्रार्थना करते रहते हैं। भगवन् ! भला, बतलाइये तो सही मोक्ष देने वाले आपकी आराधना करके ऐसा कौन श्रेष्ठ पुरुष होगा, जो अपने को बाँधने वाले सांसारिक विषयों का वर माँगे। इसलिये प्रभो! मैं सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण से सम्बन्ध रखनेवाली समस्त कामनाओं को छोड़कर केवल माया के लेशमात्र सम्बन्ध से रहित, गुणातीत, एक-अद्वितीय,, चित्स्वरूप परमपुरुष आपकी शरण ग्रहण करता हूँ। इस प्रकार भक्त हर प्रकार से अपने प्रभु के अनुकूल रहने का संकल्प करता है तथा भगवान् की शरण में पहुँच कर भक्त चिन्तामुक्त हो जाता है। “यों तो प्रपत्ति भाव का वर्णन गीता तथा उपनिषदों तक में मिलता है किन्तु उसके प्रमुख प्रचारक स्वामी रामानुजाचार्य थे। प्रपत्ति का रूढ़ अर्थ है आत्म-निवेदन। भक्ति क्षेत्र में प्रपत्ति शब्द शरणागति के अर्थ में प्रयुक्त होता है। भक्त का सब धर्म और साधनों को छोड़कर

भगवान् की शरण में जाना ही प्रपत्ति है।¹⁶⁵ इस प्रकार रामानुज की शिष्य परम्परा में होने के कारण कबीर ने प्रपत्ति मार्ग को पूर्णतया अपनाया है। उन्होंने अपनी रचनाओं में स्थान-स्थान पर भगवान् की शरण में जाने का उपदेश दिया है।

“जनकबीर तेरी सरन आयो राखि लेहु भगवान्।”¹⁶⁶

यह प्रपत्ति (शरणागति) की भावना ही कबीर की भक्ति भावना का प्राण है। कबीर में प्रपत्ति के सभी अंगों का विकास पाया जाता है।

3.1) आनुकूल्यस्य संकल्पः – जो कार्य भगवान् के अनुकूल हों उन्हें ही करना। “सदाचरण ही भगवान् के अनुकूल उत्तम कर्म है, इसी के द्वारा भक्त मनोरथ की सिद्धि कर पाता है।”¹⁶⁷ अर्थात् वे बातें करना जो भगवान् के अनुकूल हों, उन्हें अच्छी लगे। कबीर की सारी वाणी, समस्त उपदेश इसी तत्त्व को लेकर खड़े हुए हैं। “वह भक्त को सद्गुणों की शिक्षा देते हैं उसे सदाचरण सिखलाते हैं। सेव्य सेवक भाव में दृढ़ होने का उपदेश देते हैं। इन सबसे अधिक जोर उन्होंने हृदय की निष्कपटता पर दिया।”¹⁶⁸ कबीर ने लिखा है—

“हरि न मिले बिन हिरदे सूध।”¹⁶⁹

इस प्रकार कबीर ने भक्ति में निष्कपटता पर जोर दिया है। पवित्र हृदय में ही ईश्वर निवास करते हैं। तुलसीदास पूरे प्रपन्न भक्त थे। राम के चरणों में शरणागति तुलसी का एकमात्र ध्येय है। इसी ध्येय अथवा उद्देश्य की प्राप्ति के लिए उन्होंने ‘विनयपत्रिका’ में विभिन्न देवी-देवताओं की स्तुति की है। सभी देवी-देवताओं की स्तुति करते हुए वे अंत में राम-भक्ति प्राप्त करने का ही वरदान माँगते हैं—अन्य कोई भी स्पृहा उनके मन में नहीं है। प्रपत्ति-याचना विनय के द्वारा की जाती है। अतः ‘विनय’ प्रपत्ति के भीतर अनिवार्यतः विद्यमान रहती है। तुलसी का यह दृढ़ विश्वास है कि (आर्त्त) प्रपन्न बनकर ही राम-चरण-प्राप्ति हो सकती है। प्रपन्न-भक्त बनकर ही भव-सागर से पार उतरा जा सकता है। प्रपत्यात्मक भक्ति या शरणागति तुलसी के भक्ति-सिद्धान्त की नींव है—

“मैं हरि पतित-पावन सुने।

मैं पतित तुम पतित- पावन दोउ बानक बने।।

ब्याध गनिका गज अजामिल साखि निगमनि मने।

और अधम अनेक तारे जात कापै गने।।

जानि नाम अजानि लीन्हें नरक सुरपुर मने ।

दासतुलसी सरन आयो, राखिये आपने ॥¹⁷⁰

राम के शरणागत—वत्सल रूप से अनभिज्ञ जगत् सांसारिक वासनाओं में प्रवृत्त हो गया है, जिसके परिणामस्वरूप वह भयंकर कष्टों को झेल रहा है। किन्तु कपट त्यागकर एकनिष्ठता से पतितपावन भगवान् की शरण में जाने से, तुलसी कहते हैं कि मेरे जैसे (पापी) भी भवसागर से तर गए। तुलसी जैसे महान् भक्त को तो रामचरणरति का वरदान मिलना स्वाभाविक था। 'विनयपत्रिका' के महान् रचयिता से बढ़कर और कौन परमपद का अधिकारी बन सकता था। तुलसीदास ने लिखा है कि कोई भी व्यक्ति छलहीन अवस्था में भगवान् की शरण में जाने पर आनंद प्राप्त कर सकता है। आनुकूल्यस्य संकल्पः अर्थात् भक्त सर्वप्रथम भगवान् के प्रति सदैव अनुकूल रहने की निश्चयात्मक अभिव्यक्ति करता है। तुलसी की विनयपत्रिका में आनुकूल्य का संकल्प पद (105) में देखा जा सकता है—

“अबलों नसानी, अब न नसैहौं ।

राम—कृपा भव—निसा सिरानी, जागे फिरि न डसैहौं ॥

पायेउँ नाम चारु चिंतामनि, उर कर तें न खसैहौं ।

स्यामरूप सुचि रुचिर कसौटी, चित कंचनहिं कसैहौं ॥

परबस जानि हँस्यो इन इंद्रिन, निज बस ह्वै, न हँसैहौं ।

मन मधुकर पन कै तुलसी रघुपति—पद—कमल बसैहौं ॥¹⁷¹

अर्थात् अब तक तो (यह आयु व्यर्थ ही) नष्ट हो गयी, परन्तु अब इसे नष्ट नहीं होने दूँगा। श्रीराम की कृपा से संसार रूपी रात्रि बीत गयी है, (मैं संसार की माया—रात्रि से जग गया हूँ) जब जागने पर फिर (माया का) बिछौना नहीं बिछाऊँगा (अब फिर माया के फंदे में नहीं फँसूँगा) मुझे राम नामरूपी सुन्दर चिन्तामणि मिल गयी है। उसे हृदयरूपी हाथ से कभी नहीं गिरने दूँगा अथवा हृदय से राम नाम का स्मरण करता रहूँगा और हाथ से राम—नाम की माला जपा करूँगा। श्री रघुनाथ जी का जो पवित्र श्यामसुन्दर रूप है उसकी कसौटी बनाकर अपने चित्ररूपी सोने को कसूँगा। अर्थात् यह देखूँगा कि श्री राम के ध्यान में मेरा मन सदा—सर्वदा लगता है कि नहीं। जब तक मैं इन्द्रियों के वश में था, तब तक उन्होंने (मुझे मनमाना नाच नचाकर) मेरी बड़ी हँसी उड़ाई, परन्तु अब स्वतन्त्र होने पर यानी मन—इन्द्रियों को

जीत लेने पर उनसे अपनी हँसी नहीं कराऊँगा। अब तो अपने मनरूपी भ्रमर को प्रण करके श्री राम जी के चरण— कमलों में लगा दूँगा। अर्थात् श्रीराम जी के चरणों को छोड़कर दूसरी जगह मन को जाने ही नहीं दूँगा। इस प्रकार भगवान् राम की शरणागति प्राप्त करने के लिए तुलसी ने राम—चरण—रति का दृढ़ संकल्प किया है। अपने आराध्य की शरण में जाने पर आराधक आत्महितार्थ अनुकूल सत्कार्यों के सम्पादन का संकल्प करता है। सूरदास ने भी ईश्वर के अनुकूल कार्य करने का सन्देश दिया है। आत्मा के उत्थान के अनुकूल जहाँ वातावरण मिले, वहीं जाने का संकल्प इन पंक्तियों में प्रकट हुआ है—

“सुआ, चलि ता बन कौ रस पीजै ।

जा बन रामनाम अम्रितरस, श्रवन—पात्र भरि लीजै ॥

को तेरौ पुत्र, पिता तू काकौ, धनी धर कौ तेरौ?

काग—सृगाल—स्वान कौ भोजन, तू कहै मेरौमेरौ ।

बन बारानसि मुक्ति—क्षेत्र है, चलि तोकाँ, दिखराऊँ ।

सूरदास साधुनि की संगति, बड़े भाग्य जो पाऊँ ॥”¹⁷²

अर्थात् “हे (मन रूपी) शुक, उस (सत्संग रूपी दिव्य) वन के रस का पान करो, जिस वन में राम—नाम रूपी अमृतोपम रस सुलभ है, उसे अपने कर्ण—पात्रों में भर लेना। (इस नश्वर संसार में) कौन तुम्हारा पुत्र है, तुम किसके पिता हो, कौन तुम्हारी गृहिणी है और कौन तुम्हारा घर है? (वस्तुतः ये सभी सम्बन्धी) कौवाँ, स्यारों और कुत्तों को भोजन स्वरूप हैं। परन्तु तुम कहते हो कि यह मेरा है, वह मेरा है। (यह सत्संग रूपी) वन वाराणसी (के समान पवित्र) एवं मुक्तिदायी क्षेत्र है, चलो तुम्हें (इसका) दर्शन करा दूँ। सूरदास कहते हैं कि सन्तों की संगति ही यह (मुक्ति—दायी वन—वाराणसी है) इसे पा जाऊँ तो धन्य मेरे भाग्य ॥”¹⁷³ इस प्रकार सूरदास मनुष्य को संसार की नश्वरता से परिचित कराते हुए उसे ईश्वर की शरण में जाने का सन्देश देते हैं। आनुकूल्यस्य संकल्पः में भक्त भगवान् के अनुकूल चलने का निश्चय करता है। “संकल्प का यह भाव शरणागति की मनोवैज्ञानिक भूमिका है। इससे भक्त का चित्त अहंकारादि से मुक्त और सत्त्वगुणयुक्त होकर, उसको भगवत्प्रसाद का पात्र बना देता है ॥”¹⁷⁴ इस प्रकार भक्त विषय—वासनाओं से मुक्त होकर भगवान् के अनुकूल होने का संकल्प करता है। भक्त अनित्य संसार को छोड़कर नित्य व पूर्ण

ईश्वर के चरणों में अपने आपको समर्पित कर देता है। “जैसे नदी के पार जाने का अभिलाषी नाव पर बैठकर निश्चिन्त हो जाता है, उसके पार पहुँचाने का समग्र उत्तरदायित्व नाव के खेने वाले पर होता है, उसे नाव पर बैठने के अतिरिक्त स्वयं कोई पुरुषार्थ नहीं करना पड़ता, इसी प्रकार भक्त का कार्य केवल प्रभु की शरणरूपी नाव पर बैठ जाना है। आत्मनिवेदन और सर्वात्मना समर्पण के अतिरिक्त उसे और कुछ नहीं करना है। भवसागर से पार लगाने और उसके योग-क्षेम को साधने की चिन्ता स्वयं भगवान् करेंगे, वह नहीं।”¹⁷⁵ इस प्रकार भक्त सर्वतोभावेन समर्पण के द्वारा भवसागर से पलक झपकते ही पार हो जाता है। ईश्वर (सत्य) के अनुकूल जो आचरण किया जाता है वही सच्ची भक्ति है, वही आनुकूल्यस्य संकल्पः है। ईश्वर की शरण में जाकर भक्त निहाल हो जाता है। उसका उद्धार हो जाता है।

3.2) प्रतिकूलता का त्याग—

इसका अर्थ है जो पदार्थ आध्यात्मिक उत्थान से अनुकूल नहीं हैं, प्रतिकूल है, भक्त उनका परित्याग कर देता है। इस प्रकार जो कार्य ईश्वर के अनुकूल नहीं है भक्त उन सभी का परित्याग कर देता है यहि प्रतिकूलता का त्याग है।

“सङ्गं न कुर्यात्प्रमदासु जातु योगस्य पारं परमारुरुक्षुः।

मत्सेवया प्रतिलब्धात्मलाभो वदन्ति या निरयद्धारमस्य।।”¹⁷⁶

अर्थात् जो पुरुष योग के परम पद पर आरूढ़ होना चाहता हो अथवा जिसे मेरी सेवा के प्रभाव से आत्मा-अनात्मा का विवेक हो गया हो, वह स्त्रियों का संग कभी न करे; क्योंकि उन्हें ऐसे पुरुष के लिये नरक का खुला द्वारा बताया गया है। भागवत् में लिखा है कि वही कर्म सफल है, जिसके द्वारा सर्वात्मा सर्वेश्वर श्रीहरि का सेवन किया जाता है। जिन कर्मों से श्रीहरि को प्राप्त न किया जाय, वे सब साधन व्यर्थ हैं।

“तज्जन्म तानि कर्माणि तदायुस्तन्मनो वचः।

नृणां येनेह विश्वात्मा सेव्यते हरिरीश्वरः।।

किं जन्मभिस्त्रिभिर्वेह शौक्लसा-वित्रयाज्ञिकैः।

कर्मभिर्वा त्रयीप्रोक्तैः पुंसोऽपि विबुधायुषा।।

श्रुतेन तपसा वा किं निपुणया बलेनेन्द्रियराधसा।

कि वा योगेन सांख्येन न्यासस्वाध्यायोरपि ।।

कि वा श्रेयोभिरन्यैश्च न यत्रात्मप्रदो हरिः¹⁷⁷

अर्थात् राजाओ! इस लोक में मनुष्य का वही जन्म, वही कर्म वही आयु, वही मन और वही वाणी सफल है, जिसके द्वारा सर्वात्मा सर्वेश्वर श्रीहरिका सेवन किया जाता है।। जिनके द्वारा अपने स्वरूप का साक्षात्कार कराने वाले श्रीहरि को प्राप्त न किया जाय, उन माता-पिता की पवित्रता से, यज्ञोपवीत-संस्कार से एवं यज्ञदीक्षा से प्राप्त होने वाले उन तीन प्रकार के श्रेष्ठ जन्मों से, वेदोक्त कर्मों से, देवताओं के समान दीर्घ आयु से, शास्त्रज्ञान से, तप से, वाणी की चतुराई से, अनेक प्रकार की बातें याद रखने की शक्ति से, तीव्र बुद्धि से, बल से, इन्द्रियों की पटुता से, योग से, सांख्य (आमानात्मविवेक)-से, सन्यास और वेदाध्ययन से तथा व्रत-वैराग्यादि अन्य कल्याण-साधनों से भी पुरुष का क्या लाभ है? इस प्रकार वही कार्य उचित है जो ईश्वर के अनुकूल है। भक्त सदैव हरि चरणों में शरण पाने के लिए ईश्वर के अनुकूल कर्म करता है तथा प्रतिकूल का त्याग करता है। वह संसार की नश्वरता से परिचित होता है तथा सांसारिक प्रलोभनों को छोड़कर प्रेमपूर्वक अपने आराध्य की सेवा करता है तथा अपने हरि के चरणों में शरण प्राप्त करता है। इस प्रकार भक्त का भगवान् के चरणों में समर्पण ही सच्ची भक्ति है। यही जीवन का सार है। 'प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्' इसके अनुसार प्रपन्न मनुष्य को कोई ऐसे कार्य नहीं करने चाहिये जिनसे भगवान् अप्रसन्न हों। इसके लिए उसे असद् कर्मों से दूर रहना चाहिए। "भगवान् के प्रतिकूल व्यक्ति, भाव, चर्चा, वस्तु आदि से पराङ्मुख रहना। यह वस्तुतः अनुकूलता के संकल्प का ही व्यतिरेकी प्रतिपादन है।"¹⁷⁸ भक्त भूल करके भी भगवान् की आज्ञा का उल्लंघन नहीं कर सकता। प्राकृतिक पदार्थों के शाश्वत गुणों में उलट-फेर हो सकता है, परन्तु भक्त अपने आराध्य के प्रतिकूल नहीं जा सकता। इसी भावना की पराकाष्ठा पर पहुँच कर कबीर ने काम, क्रोध, लोभ, मोह, मान, कपट, आशा, तृष्णा आदि की निन्दा की है। भगवान् को असन्त सबसे अधिक अप्रिय हैं।

“राम मणि राम मणि राम चिन्तामणि । भाग बड़े पायो छाड़े जिन ।।

असंत संगति जिन जाइ रे भुलाइ । साधु संगति मिली हरि गुण गाई ।।"¹⁷⁹

भक्ति की सर्वोच्च स्थिति में मानव शेष सभी उपायों को तिरस्कृत कर केवल भगवान् से ही अपने समस्त मंगल की अपेक्षा करता है। ऐसे व्यक्ति को ही शरणागत कहा जाता है और वह अपना सर्वस्व भगवान् को सौंप देता है। राम के प्रति कबीर की अनन्य भक्ति है। तुलसीदास ने भी अपने आराध्य के अनुकूल आचरण करना तथा प्रतिकूलता को त्यागना यही संदेश दिया है। जब कोई व्यक्ति आपके भक्ति-भाव में बाधक बनता है अर्थात् आपको ईश्वर की ओर जाने से रोकता है तो उसका तुरन्त त्याग कर देना चाहिए। तुलसीदास ने इसी भावना की पराकाष्ठा पर पहुँच कर यह भाव व्यक्त किया है—

“जाके प्रिय न राम—बैदेही।

तजिये ताहि कोटि बैरी सम, जद्यपि परम सनेही।।

तज्यो पिता प्रहलाद, बिभीषण बंधु, भरत महतारी।

बलि गुरु तज्यो कंत ब्रज—बनितन्हि, भये मुद—मंगलकारी।।

नाते नेह रामके मनियत सुहृद सुसेब्य जहाँ लौं।

अंजन कहा आँखि जेहि फूटै, बहुतक कहाँ कहाँ लौं।।

तुलसी सो सब भाँति परम हित पूज्य प्रानते प्यारो।

जासों होय सनेह राम—पद, एतो मतो हमारो।।”¹⁸⁰

अर्थात् जिसे श्रीराम—जानकीजी प्यारे नहीं, उसे करोड़ों शत्रुओं के समान छोड़ देना चाहिये, चाहे वह अपना अत्यन्त ही प्यारा क्यों न हो। (उदाहरण के लिये देखिये) प्रहलाद ने अपने पिता (हिरण्यकशिपु)—को, विभीषण ने अपने भाई (रावण)—को, भरतजी ने अपनी माता (कैकेयी)—को, राजा बलि ने अपने गुरु (शुक्राचार्य)—को और ब्रज—गोपियों ने अपने अपने पतियों को (भगवत्प्राप्ति में बाधक समझकर) त्याग दिया, परन्तु ये सभी आनन्द और कल्याण करने वाले हुए। जितने सुहृद् और अच्छी तरह पूजने योग्य लोग हैं, वे सब श्रीरघुनाथजी के ही सम्बन्ध और प्रेम से माने जाते हैं, बस, अब अधिक क्या कहूँ। जिस अंजन के लगाने से आँखें ही फूट जायँ, वह अंजन ही किस काम का? हे तुलसीदास! जिसके कारण (जिसके संग या उपदेश से) श्रीरामचन्द्रजीके चरणों में प्रेम हो, वही सब प्रकार से अपना परम हितकारी, पूजनीय और प्राणों से भी अधिक प्यारा है। हमारा तो यही मत है। जो

पदार्थ आध्यात्मिक उत्थान के अनुकूल नहीं हैं, प्रतिकूल है, भक्त उनका परित्याग कर देता है। सूरदास ने भी यही संदेश दिया है—

“दिये लेत नहिं चार पदारथ, चरन कमल चित लाये।

तीन लोक तून सम करि लेखत, नेद नंदन उर लाये।।”¹⁸¹

तथा “अब न सुहात विषय—रस—छीलर, वा समुद्र की आस।।”¹⁸²

सूरदास लिखते हैं कि मुझे उस परमपद भगवान् के चरणों रूपी समुद्र को छोड़कर यह विषयों के रस की यह छिछली तलैया (दुनिया) अच्छी नहीं लग रही है। जो एक बार उस प्रभु के चरण कमलों के रस का पान कर लेता है फिर उसे यह सांसारिक आकर्षण तुच्छ लगते हैं। भक्त को केवल अपने भगवान् के अनुकूल रहना अच्छा लगता है। भगवान् के विपरित (संसार) चलना भक्त को अच्छा नहीं लगता क्योंकि जो हरिरस का पान कर लेता है वह फिर अपना सारा ध्यान हरि में ही केन्द्रित कर लेता है। यही सच्ची भक्ति है।

3.3) रक्षा का विश्वास—

जिसका अर्थ है— भक्त को अपने आराध्य पर पूर्ण विश्वास होना कि मेरी रक्षा तो मेरे प्रभु ही करेंगे क्योंकि वे ही समर्थ हैं। भक्त को एकमात्र अपने भगवान् पर ही भरोसा है—

“कृष्ण कृष्ण महाबाहो भक्तानामभयङ्कर।

त्वमेको दह्यमानानामपवर्गोऽसि संसृते:।।”¹⁸³

अर्थात् श्री कृष्ण! तुम सच्चिदानन्द स्वरूप परमात्मा हो। तुम्हारी शक्ति अनन्त है। तुम्हीं भक्तों को अभय देने वाले हो। जो संसार की धधकती हुई आग में जल रहे हैं, उन जीवों को उससे उबारने वाले एक मात्र तुम्हीं हो। इसी प्रकार का एक और उदाहरण निम्न हैं—

“पाहि पाहि महायोगिन्देवदेव जगत्पते।

नान्यं त्वदमयं पश्ये यत्र मृत्युः परस्परम्।।”¹⁸⁴

अर्थात् देवाधिदेव! जगदीश्वर! आप महायोगी हैं। आप मेरी रक्षा कीजिये, रक्षा कीजिये। आपके अतिरिक्त इस लोक में मुझे अभय देने वाला और कोई नहीं है; क्योंकि यहाँ सभी परस्पर एक—दूसरे की मृत्यु के निमित्त बन रहे हैं। इस प्रकार

भक्त केवल अपने आराध्य का भरोसा करता है, कि प्रभु आप ही एकमात्र समर्थ हैं। आप ही मेरी रक्षा कर सकते हैं।

“कृष्ण कृष्ण महाभाग त्वन्नाथं गोकुलं प्रभो।

त्रातुमर्हसि देवान्नः कुपिताद् भक्तवत्सल।।”¹⁸⁵

अर्थात् और बोले— प्यारे श्री कृष्ण! तुम बड़े भाग्यवान् हो। अब तो कृष्ण! केवल तुम्हारे ही भाग्य से हमारी रक्षा होगी। प्रभो! इस सारे गोकुल के एकमात्र स्वामी, एकमात्र रक्षक तुम्हीं हो। भक्तवत्सल! इन्द्र के क्रोध से अब तुम्हीं हमारी रक्षा कर सकते हो। इस प्रकार भक्त को अपनी कठिन से कठिन परिस्थिति में यह विश्वास रहता है कि प्रभु उसकी रक्षा करेंगे। ‘रक्षिष्यतीति विश्वासः’ अर्थात् भगवान् रक्षा करेंगे यह विश्वास करना। इसके बिना प्रपत्ति हो ही नहीं सकती। “यही तत्त्व है जो प्रपन्न साधक में पूर्ण आस्तिकता का प्रवर्तन करता है।”¹⁸⁶ कबीर की बानियों में सर्वत्र इस अंग के उदाहरण मिलते हैं—

“अब मोहि राम भरोसो तेरा, और कौन का करौं निहोरा।”¹⁸⁷

भक्त को अपनी कठिन से कठिन परिस्थिति में यह विश्वास रहता है कि प्रभु उसकी रक्षा करेंगे। संसार में माता, पिता, बन्धु, पुत्र, सम्बन्धी—सब भले ही साथ छोड़ दें, विश्वासघाती बन बैठें, पर प्रभु साथ नहीं छोड़ेंगे। यह विश्वास जीवन—यात्रा में भक्त के लिए सम्बल का कार्य करता है। भगवान् की रक्षण—शक्तियों में भक्त का अटल विश्वास होना ही रक्षा का विश्वास है। भक्त का यह अडिग विश्वास होता है कि भगवान् उसकी सदा रक्षा करेंगे, वे प्रणतपाल एवं शरणागतरक्षक जो हैं। भक्त को अपने भगवान् में विश्वास होता है तभी तो वह संसार (अनित्य) को छोड़कर ईश्वर (नित्य) के चरणों की शरण लेता है। वह जानता है कि मेरे भगवान् मुझे जरूर अपनायेंगे क्योंकि वे शरणागतवत्सल हैं और शरण में आने पर भक्त को अपने गले से लगा लेते हैं तथा उसे भवसागर से पार कर देते हैं। “भक्त का यह अडिग विश्वास है कि भगवान् रक्षक हैं, वे सदा से भक्तों की रक्षा करते आये हैं और करेंगे। भगवान् को भक्ति के आलंबनरूप में ग्रहण करने के लिए भक्त के मन में इस महाविश्वास का होना आवश्यक है।”¹⁸⁸ तुलसी को अपने राम पर अडिग विश्वास है। तुलसी ने लिखा है कि जब भगवान् राम ने बड़े—बड़े आर्त्ता एवं अनाथों

की रक्षा की है तो वे भला तुलसी की रक्षा क्यों न करेंगे, ऐसे अडिग विश्वास से ओत-प्रोत प्रस्तुत पद (226)

“भरोसो जाहि दूसरो सो करो।

मोको तो रामको नाम कलपतरु कलि कल्याण फरो ॥

करम उपासन, ग्यान, बेदमत, सो सब भाँति खरो।

मोहि तो ‘सावन के अंधहि’ ज्यों सूझत रंग हरो ॥

चाटत रह्यो स्वान पातरि ज्यों कबहुँ न पेट भरो।

सो हौं सुमिरत नाम—सुधारस पेखत परुसि धरो ॥

स्वारथ औ परमारथ हू को नहि कुंजरो—नरो।

सुनियत सेतु पयोधि पषाननि करि कपि कटक—तरो ॥

प्रीति—प्रतीति जहाँ जाकी, तहँ ताको काज सरो।

मेरे तो माय—बाप दोउ आखर, हौं सिसु—अरनि अरो ॥

संकर साखि जो राखि कहौं कछु तौ जरि जीह गरो।

अपनो भलो राम—नामहि ते तुलसिही समुझि परो ॥”¹⁸⁹

अर्थात् जिसे दूसरे का भरोसा हो, सो करे। मेरे लिये तो इस कलियुग में एक राम—नाम ही कल्पवृक्ष है, जिसमें कल्याणरूपी फल फला है। भाव यह कि राम—नाम से मुझे तो यह भगवत् प्रेम प्राप्त हुआ है। यद्यपि कर्म, उपासना और ज्ञान—ये वैदिक सिद्धान्त सभी सब प्रकार से सच्चे हैं, किन्तु मुझे तो, सावन के अन्धे की भाँति, जहाँ देखता हूँ वहाँ हरा—ही—हरा—रंग दीखता है। (एक राम—नाम ही सूझ रहा है) ॥ मैं कुत्ते की नाई (अनेक जूँटी) पत्तलों को चाटता फिरा, पर कभी मेरा पेट नहीं भरा। आज मैं नाम—स्मरण करने से अमृतरस परोसा हुआ देखता हूँ। (मैंने अनेक देवभोग्य भोग भोगे, परन्तु कहीं तृप्ति नहीं हुई। पूर्ण, नित्य परमानन्द कहीं नहीं मिला। अब श्रीराम नाम का स्मरण करते ही मैं देख रहा हूँ, कि मुक्ति का थाल मेरे सामने परोसा रखा है अर्थात् ब्रह्मानन्दरूप मोक्षपर तो मेरा अधिकार ही हो गया। परोसी थाली के पदार्थ को जब चाहूँ तब खा लूँ, इसी प्रकार मोक्ष तो जब चाहूँ तभी मिल जाय। परन्तु मैं तो मुक्त पुरुषों की कामना की वस्तु श्रीराम—प्रेम—रसका पान कर रहा हूँ।) मेरे लिये राम—नाम स्वार्थ और परमार्थ दोनों का ही साधक है, (मुक्तिरूपी स्वार्थ और भगवत्प्रेमरूपी परम अर्थ दोनों ही मुझे श्रीराम—नाम से मिल गये) यह

बात 'हाथी है या मनुष्य' की—सी दुविधा भरी नहीं है, (क्योंकि मुझे तो प्राप्त है) मैंने सुना है कि इसी नाम के प्रभाव से बंदरों की सेना पत्थरों का पुल बनाकर समुद्र को पार कर गयी थी। जहाँ जिसका प्रेम और विश्वास है, वहीं उसका काम पूरा हुआ है। (इसी सिद्धान्त के अनुसार) मेरे तो माँ—बाप ये दोनों अक्षर —'र' और 'म' हैं। मैं तो इन्हीं के आगे बाल हठ से अड़ रहा हूँ, मचल रहा हूँ। यदि मैं कुछ भी छिपाकर कहता होऊँ तो भगवान् शिवजी साक्षी हैं, मेरी जीभ जलकर या गलकर गिर जाय। यही समझ में आया कि अपना कल्याण एक राम—नाम से ही हो सकता है। तुलसी को अपने आराध्य राम पर दृढ़ विश्वास है। वे अपने भगवान् राम को जीवन का आधार मानते हैं। उन्हें राम की रक्षा पर पूर्ण विश्वास है। सूर की रचनाओं में रक्षा का यह दृढ़ विश्वास विद्यमान है।

“जाकौं मन मोहन अंग करै।

ताकौं केस खसै नहिँ सिर तै, जौ जग बैर परै॥

हिरनकसिपु—परहार थक्यौ, प्रहलाद न नैकु डरै।

अजहूँ लगी उत्तानपाद—सुत, अविचल राज करै॥

राखी लाज द्रुपद—तनया की, कुरुपति चीर हरे।

दुरजोधन कौ मान भंग करि बसन—प्रवाह भरै॥

जौ सुरपति कोप्यौ व्रज ऊपर क्रोध न कछू सरै।

ब्रज— जन राखि नंद कौ लाला, गिरिधर बिरद धरै॥

जाकौ विरद है गर्ब—प्रहारी, सो कैसेँ बिसरै?

सूरदास भगवंत—भजन करि, सरन गए उबरै॥¹⁹⁰

अर्थात् “जिसको श्री कृष्ण अपना लें, उसके केश सिर से खिसकते नहीं चाहे संसार उससे शत्रुता कर ले। हिरण्यकश्यप प्रहार करते हुए थक गया किन्तु प्रहलाद तनिक भी न डरा। (प्रभु कृपा से) आज भी (राजा) उत्तानपाद के पुत्र (ध्रुव) अविचल राज्य कर रहे हैं। जब कुरुपति साड़ी खींच रहे थे तब (प्रभु ने) द्रुपदकन्या (द्रौपदी) की लज्जा रखी। दुर्योधन के मान को भंग करके वस्त्र के प्रवाह को (पूर्ण रूप से) भर दिया। जब देव राज (इन्द्र) ने व्रज पर क्रोध किया तब उनके क्रोध से कुछ भी प्रभाव न पड़ा। श्री कृष्ण ने गोवर्धन को धारण करके व्रजवासियों की रक्षा की जिससे उनकी बड़ाई बढ़ी। जिसका यश ही घमंड को चूर करने वाला है, उसे कैसे

भुला जाय? सूरदास कहते हैं— भगवान् का भजन करो, उनकी शरण में जाने से ही मुक्ति मिलती है।¹⁹¹ इस प्रकार सूरदास कहते हैं कि मनुष्य जन्म को व्यर्थ नहीं गवाँना चाहिए। हर समय भगवान् का भजन करते रहना चाहिए। प्रभु के चरणों में जाने से सभी विषय—विकार स्वतः नष्ट हो जाते हैं तथा आत्मा निर्मल होकर प्रभु प्रेम में सरोबार हो जाती है। भक्त का अपने आराध्य पर भरोसा रखना ही रक्षिष्यतीति विश्वासः है।

3.4 गोप्तृत्ववरण

भगवान् को रक्षक रूप में स्वीकार कर लेना गोप्तृत्व—वरण है। कष्ट निवारणार्थ भक्त मात्र भगवच्छरण में जाता है क्योंकि वह उन्हें ही एक मात्र अपना रक्षक मानता है।

“नूनं त्वद्वान्धवाः कृष्ण न चार्हन्त्यवसीदितुम्।

वयं हि सर्वधर्मज्ञ त्वन्नाथास्त्वत्परायणाः ॥”¹⁹²

अर्थात् श्री कृष्ण! जिनके तुम्हीं भाई—बन्धु और सब कुछ हो, उन्हें तो किसी प्रकार का कष्ट नहीं होना चाहिये। सब धर्मों के ज्ञाता श्यामसुन्दर! तुम्हीं हमारे एकमात्र रक्षक एवं स्वामी हो; हमें केवल तुम्हारा ही भरोसा है। इसी प्रकार का एक और उदाहरण निम्न है—

“अप्यद्य नस्त्वं स्वकृतेहित प्रभो जिहाससि स्वित्सुहृदयोऽनुजीविनः।

येषां न चान्यद्भवतः पदाम्बुजात् परायणं राजसु योजितांहसाम् ॥”¹⁹³

अर्थात् भक्तवाञ्छाकल्पतरु प्रभो! क्या अब आप अपने आश्रित और सम्बन्धी हमलोगों को छोड़कर जाना चाहते हैं। आप जानते हैं कि आपके चरण— कमलों के अतिरिक्त हमें और किसी का सहारा नहीं है। पृथ्वी के राजाओं के हम यों ही विराधी हो गये हैं। इस प्रकार भगवान् को रक्षक रूप में वरण करना गोप्तृत्ववरण है। “भक्त भगवान् के रक्षक—रूप की कल्पना मात्र करके संतोष नहीं कर लेता। वह उसका अपने रक्षक—रूप में वस्तुतः वरण भी करता है। यह मानव मात्र की सहज प्रवृत्ति है कि वह कष्टों से त्राण पाने के लिए समर्थ की शरण में जाता है। भक्त की दृष्टि में तो सर्व समर्थ भगवान् ही गोप्ता हैं।”¹⁹⁴ प्रभु में अनन्त शक्तियाँ हैं, जो भक्त के कल्याण में काम आती हैं। प्रभु बहुत दयालु है। शरण में आने पर उसका

तुरन्त उद्धार कर देते हैं। प्रभु के इस करुणामय रूप ही को भक्त अपने हृदय में धारण करता है। निम्नांकित पंक्तियाँ भी गोप्तृत्व वरण की अभिव्यंजना करती हैं—

“हमारे निर्धन के धन राम।

चोर न लेत, घटत नहिँ कबहुँ, आबत गाढै काम॥

जल नहिँ बूड़त, अगिनि न दाहत, है ऐसौ हरि—नाम।

वैकुण्ठनाथ सकल सुख—दात, सूरदास—सुख—धाम॥”¹⁹⁵

अर्थात् “मुझ गरीब के राम ही सर्वस्व धन हैं। इसे चोर नहीं चुराता, यह कभी घटता भी नहीं तथा मुश्किल के दिनों में काम आता है। यह जल में नहीं डूबता; इसे अग्नि नहीं जला सकती। इस प्रकार यह हरि नाम (अत्यन्त प्रभावकारी) है। सूरदास के सुख के आगार वैकुण्ठवासी भगवान् सभी सुखों को प्रदान करने वाले हैं।”¹⁹⁶ इस प्रकार संसार से पार उतरने के लिए भगवान् को गोप्तृ के रूप में वरण करना बड़ा आवश्यक है। इसलिए तुलसीदास भगवान से कहते हैं—

“कृपा सो धौँ कहाँ बिसारी राम।

जेहि करुना सुनि श्रवन दीन—दुख, धावत हौ तजि धाम॥

नागराज निज बल बिचारि हिय, हारि चरन चित दीन्हों।

आरत गिरा सुनत खगपति तजि, चलत बिलंब न कीन्हों॥

दितिसुत—त्रास—त्रसित निसिदिन प्रहलाद—प्रतिग्या राखी।

अतुलित बल मृगराज—मनुज—तनु दनुज हत्यो श्रुति साखी॥

भूप—सदसि सब नृप बिलोकि प्रभु, राखु कहौ नर—नारी।

बसन पूरि, अरि—दरप दूरि करि, भूरि कृपा दनुजारी॥

एक एक रिपुते त्रासित जन, तुम राखे रघुबीर।

अब मोहिं देत दुसह दुख बहु रिपु कस न हरहु भव—पीर॥

लोभ—ग्राह, दनुजेस—क्रोध, कुरुराज—बंधु खल मार।

तुलसिदास प्रभु यह दारुन दुख भंजहु राम उदार॥”¹⁹⁷

अर्थात् हे श्रीरामजी! आपने उस कृपा को कहाँ भुला दिया, जिसके कारण दीनों के दुखकी करुण—ध्वनि कानों में पड़ते ही आप अपना धाम छोड़कर दौड़ा करते हैं। जब गजेन्द्र ने अपने बल की ओर देखकर और हृदय में हार मानकर आपके चरणों में चित्त लगाया, तब आप उसकी आर्त्त पुकार सुनते ही गरुड़ को छोड़कर तुरन्त

वहाँ पहुँचे, तनिक—सी भी देर नहीं की।। हिरण्यकशिपु से रात—दिन भयभीत रहने वाले प्रहलाद की प्रतिज्ञा आपने रखी, महान् बलवान् सिंह और मनुष्यका—सा (नृसिंह) शरीर धारण कर उस दैत्य को मार डाला, वेद इस बात का साक्षी है।। 'नर' के अवतार अर्जुन की पत्नी द्रौपदी ने जब राजसभा में (अपनी लज्जा जाते देखकर) सब राजाओं के सामने पुकारकर कहा कि 'हे नाथ! मेरी रक्षा कीजिये' तब हे दैत्यशत्रु! आपने वहाँ (द्रौपदी की लाज बचाने को) वस्त्रों के ढेर लगाकर तथा शत्रुओं का सारा घमंड चूर्णकर बड़ी कृपा की।। हे रघुनाथजी! आपने इन सब भक्तों को एक—एक शत्रु के द्वारा सताये जाने पर ही बचा लिया था। पर यहाँ मुझे तो बहुत—से शत्रु असह्य कष्ट दे रहे हैं। मेरी यह भव—पीड़ा आप क्यों नहीं दूर करते? लोभरूपी मगर, क्रोधरूपी दैत्यराज हिरण्यकशिपु, दुष्ट कामदेवरूपी दुर्योधन का भाई दुःशासन, ये सभी मुझ तुलसीदास को दारुण दुख दे रहे हैं। हे उदार रामचन्द्र जी! मेरे इस दारुण दुख का नाश कीजिये।" इस प्रकार तुलसीदास लिखते हैं कि जब गजेन्द्र, प्रहलाद तथा द्रौपदी ने, 'मेरी रक्षा कीजिए' कहकर पुकारा था तो आप तुरन्त दौड़ गये थे। उन तीनों के एक—एक ही शत्रु थे लेकिन जब तुलसी को लोभ रूपी ग्राह, क्रोध रूपी हिरण्यकशिपु तथा कामदेव रूपी दुःशासन— तीनों दारुण दुख दे रहे हैं तो भगवान् इतना विलम्ब क्यों कर रहे हैं? इस प्रकार तुलसी को अपने राम पर पूरा भरोसा है तथा इस संसार से पार उतरने के लिए भगवान् को गोप्तृ के रूप में पुकार रहे हैं। हे नाथ! मेरी रक्षा करो। मुझे इस भवसागर से पार करो। क्योंकि केवल आप ही समर्थ हैं। तुलसी 'राम' को अपने जीवन का आधार मानते हैं। राम की शरण में जाना ही तुलसी का लक्ष्य है। यही सच्ची भक्ति है।

3.5) आत्मनिक्षेप— आत्मनिक्षेप आत्मसमर्पण का दूसरा नाम है। इसमें भक्त सर्वतोभावेन अपना सर्वस्व भगवच्चरणों में अर्पित कर देता है।

“इति मतिरुपकल्पिता वितृष्णा भगवति सात्वतपुङ्गवे विभुम्नि ।

स्वसुखमुपगते क्वचिद्विहर्तुं प्रकृतिमुपेयुषि यद्ववप्रवाहः ।।”¹⁹⁸

अर्थात् अब मृत्यु के समय मैं अपनी यह बुद्धि, जो अनेक प्रकार के साधनों का अनुष्ठान करने से अत्यंत शुद्ध एवं कामना रहित हो गयी है, यदुवंश शिरोमणि अनन्त भगवान् श्री कृष्ण के चरणों में समर्पित करता हूँ, जो सदा—सर्वदा अपने

आनन्दमय स्वरूप में स्थित रहते हुए ही कभी विहार करने की—लीला करने की इच्छा से प्रकृति को स्वीकार कर लेते हैं, जिससे यह सृष्टि परम्परा चलती है। इस प्रकार आत्मनिक्षेप में भक्त केवल कृपा कांक्षी होता है। आत्म—समर्पण कर वह निश्चित हो जाता है। उसके कल्याण का सम्पूर्ण दायित्व भगवान् पर होता है। आत्म—समर्पण में भक्त अपने आराध्य के समक्ष अपने हृदय को खोलकर रख देता है। भक्त प्रभुचरण—सान्निध्य इसी से प्राप्त करता है। क्योंकि भक्त जानता है कि भगवान् के चरणों में 'शरण' पाए बिना जीव आनंदोपलब्धि नहीं कर सकता। अतः भक्त आत्मनिक्षेप कर निष्काम हो जाता है। आत्मनिक्षेप का अर्थ है— अपने आप को पूर्णतया भगवान् के अधीन कर देना। किसी भी कार्य को सम्पादित करने के लिए आत्मनिक्षेप अथवा आत्मसमर्पण अत्यावश्यक है। आत्मनिक्षेप के अभाव में भक्ति की कल्पना तक कठिन होगी। प्रपत्ति मार्ग में आत्मनिक्षेप का विशेष महत्त्व है। "भगवान् का गोप्ता अथवा रक्षक—रूप में वरण कर लेने के पश्चात् भक्त आराध्य के चरणों में मनसा— वाचा—कर्मणा अपने को तथा अपने सर्वस्व को अर्पित कर देता है। उसकी यह दशा 'आत्मनिक्षेप' कहलाती है।"¹⁹⁹ गोस्वामी तुलसीदास ने अपने प्रायः समस्त ग्रंथों में राम पर सर्वस्वार्पण करने की तीव्र आकांक्षा व्यक्त की है। 'विनय—पत्रिका' तो तुलसी के आत्मनिक्षेप अथवा आत्मसमर्पण का जीता—जागता दस्तावेज ही है। जब भक्त केवल भगवान् को ही केन्द्र मानकर समस्त कार्य करे, तब पूर्ण आत्मसमर्पण की स्थिति मानी जाती है। भगवान् का निष्काम भक्त वही है जो अपने मन को विषय—वासनाओं से हटाकर प्रभु—चरणों पर केन्द्रित कर दे अर्थात् मन को भगवदार्पित कर दे। "भक्त के समस्त कार्यों का भगवदोन्मुख होना 'आत्मनिक्षेप' का लक्षण है।"²⁰⁰ भगवान् के चरणों में पूरी तरह न्यस्त होने की इच्छा होने पर भक्त सांसारिक सुखों से विमुख हो जाता है। वह केवल भगवत्चरणों में निष्काम प्रेम चाहता है। यही भक्ति की सर्वोच्च स्थिति है। 'विनय—पत्रिका' में भी तुलसी ने इसी भाव को व्यक्त करते हुए भगवत्चरणों में सर्वस्वार्पण की तीव्र आकांक्षा व्यक्त की है। तीव्रतम प्रेमावेगस्पृहा की यह चरम स्थिति है—

“राम कबहुँ प्रिय लागिहौ जैसे नीर मीनको?

सुख जीवन ज्यों जीव को, मनि ज्यों फनिको हित, ज्यों धन लोभ—लीन को।।

ज्यों सुभाय प्रिय लगति नागरी नागर नवीन को।

त्यों मेरे मन लालसा करिये करुणाकर! पावन प्रेम पीनको ॥

मनसा को दाता कहैं श्रुति प्रभु प्रबीनको ।

तुलसिदासको भावतो, बलि जाउँ दयानिधि! दीजै दान दीनको ॥²⁰¹

अर्थात् हे श्रीरामजी! मुझे क्या कभी आप ऐसे प्यारे लगेंगे, जैसा मछली को जल प्यारा लगता है, जीव को सुखमय जीवन प्यारा लगता है, साँप को मणि प्रिय लगती है और अत्यन्त लोभी को धन प्यारा लगता है? अथवा जैसे नवयुवक नायक को स्वभाव से ही नवयुवती चतुरा नायिका प्यारी लगती है, वैसे ही हे करुणाकी खानि! मेरे मन में केवल आपके प्रति पवित्र और अनन्य प्रेम की ही एक लालसा उत्पन्न कर दीजिये। वेद कहते हैं कि प्रभु मनमानी वस्तु देनेवाले हैं और बड़े ही चतुर हैं (बिना ही कहे मन की बात जानकर उसे पूरी कर देते हैं)। हे दयानिधि! मैं आपकी बलैया लेता हूँ, इस दीन तुलसीदास को भी उसकी मनचाही वस्तु का दान दे दीजिये। भक्त को भगवान् के प्रति इसी तरह एकनिष्ठ प्रेम-भावना से युक्त रहना चाहिए। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि भक्त के समग्र कार्यों का ईश्वरोन्मुख होना ही 'आत्मनिक्षेप' है। 'आत्मनिक्षेप' की स्थिति में मन विषय-वासनाओं से हटकर आराध्य (राम) पर केन्द्रित हो जाता है। भक्त केवल 'भक्ति' प्राप्त करना चाहता है, अन्य किसी वस्तु को प्राप्त करने की उसकी आकांक्षा मर जाती है। "इस प्रकार जब भक्त गोप्ता के रूप में भगवान् का वरण कर लेता है तब वह मनसा-वाचा-कर्मणा अपने को तथा अपने सर्वस्व को भगवान् के चरणों में न्यस्त कर देता है। उसकी इस दशा को 'आत्मनिक्षेप' (आत्मसमर्पण) कहते हैं।²⁰² इस प्रकार आत्मसमर्पण द्वारा भक्त अपने आप को प्रभु के हाथों में सौंप देता है, जैसे—

"जौ हम भले बुरे तौ तेरे?

तुम्हैं हमारी लाज-बड़ाई, बिनती सुनि प्रभु मेरे ॥

सब तजि तुम सरनागत आयौ, दृढ़ करि चरन गहे रे।

तुम प्रताप-बल बदत न काहूँ, निडर भए घर-चरे ॥

और देव सब रंक-भिखारी, त्यागे बहुत अनेरे।

सूरदास प्रभु तुम्हरी कृपा तैं, पाए सुख जु घनेरे ॥²⁰³

अर्थात् "(भक्त कहता है) हे प्रभु! मेरी प्रार्थना सुनिये। मैं भला हूँ अथवा बुरा हूँ, जो कुछ हूँ तुम्हारा ही हूँ। मेरी लज्जा अथवा गौरव दोनों के ही कारण तुम्ही हो। मैं

सबको त्याग कर तुम्हारी शरण में आया हूँ और (मैंने) दृढ़ता—पूर्वक तुम्हारे चरण पकड़ लिये हैं। तुम्हारे तेज बल से किसी से भयभीत नहीं होता हूँ, घर का दास होने के नाते निडर हो गया हूँ। दूसरे देव रंक और भिखारी हैं, उन्हें अनेकों ने निष्प्रयोजन (झूठा) समझ कर छोड़ दिया है। सूरदास कहते हैं, प्रभु! तुम्हारी ही कृपा से उन्हें बहुत सुख—संपत्ति प्राप्त हो गयी है।²⁰⁴ इस प्रकार सूरदास कहते हैं कि भक्त जब आत्मसमर्पण करता है तो भगवान् उसके सारे कार्य स्वयं करते हैं। भक्त तो निश्चिंत हो जाता है। यही सच्ची भक्ति है।

3.6) कार्पण्य—

कार्पण्य का अर्थ है दीनता। कार्पण्य का अर्थ है भगवान् के सम्मुख दीनता का भाव रखना। भक्त अपनी दीनता दिखलाकर ही भगवान् की शरण में जाता है। इसके अंतर्गत ही आत्म निवेदन, भक्त की अकिंचनता एवं क्षुद्रता और भगवान् की महानता आदि के वर्णन आते हैं। 'कार्पण्यम्' अर्थात् परमदीन होकर आत्म निवेदन करना। इस महान् स्थिति में पहुँच कर भक्त सभी प्रकार के तर्कों, शंकाओं, द्वन्द्वों, अहंकार आदि से ऊँचा उठकर भगवान् के समक्ष शरणागति की याचना करता है। 'अतिदीनता' अथवा 'कार्पण्य' दास्य भक्ति की आत्मा है। यह प्रपत्ति की अंतिम विद्या है। भक्त को 'अहम्' की ज्वाला में जलने से बचाकर अति नम्रता के शीतल जल में स्नान कराने में सहयोगी है। मनुष्य यदि परमात्मा अथवा अपने आराध्य के समक्ष नत नहीं होगा तो और किसके समक्ष होगा? एक स्थल पर कबीर ने भक्त की भगवान् के प्रति कैसी सुन्दर आत्मसमर्पण की भावना व्यक्त की है—

"मैं गुलाम मोहि बेचि गुसाई, तन मन धन मेरा रामजी कै ताई ॥"²⁰⁵

तुलसी दास्य—भक्ति—सीमांत होने के कारण अति दीनता के सीमान्त भी हैं। उनके राम दीन हितकारी हैं। अतः उनका दैन्य सर्वथा सार्थक है। "अत्यंत दीनता को 'कार्पण्य' कहते हैं। भक्त, विशेषकर तुलसी—जैसा दास भक्त, भगवान् को परम महान् और अपने को परमदीन मानकर उसके प्रति आत्म निवेदन करता है।"²⁰⁶ यों तो तुलसी ने अपनी सभी कृतियों में अपने तथा अपने वर्ण्य भक्तों के कार्पण्य का विशद निरूपण किया है किन्तु उनकी 'विनय—पत्रिका' तो उनके कार्पण्य का ही निदर्शन है। "काव्य की जो रमणीयता, भक्ति—रस का जो प्रवाह, कला की जो मर्मस्पर्शिता तुलसी की कार्पण्य निरूपक पंक्तियों में है वह इस महामहिम भक्त कवि

की उत्तमोत्तमता का ज्वलंत प्रमाण है। इस दैन्य निवेदन में कहीं तो तुलसी ने भक्त की हीनता, असमर्थता, पाप आदि पर ही विशेष बल दिया है और कहीं भक्तविषयक दीनता की तुलना में भगवान् की महिमा का भी समानरूप से अतिरंजित ख्यापन किया है।²⁰⁷ इस प्रकार भक्त का दैन्य कार्पण्य है। वह भगवान् को परम महान् एवं अपने को अत्यंत हीन मानकर उनकी शरण पाने के लिए आत्म-निवेदन करता है। भागवत की स्तुतियों में भक्तों की कार्पण्य भावना का विशद् प्रकाशन हुआ है—

“तस्मादहं विगतविक्लव ईश्वरस्य सर्वात्मना महि गृणामि यथामनीषम्।

नीचोऽजयां गुणविसर्गमनुप्रविष्टः पूयेत येन हि पुमाननुवर्णितेन”²⁰⁸

अर्थात् इसलिये सर्वथा अयोग्य और अनाधिकारी होने पर भी मैं बिना किसी शंका के अपनी बुद्धि के अनुसार सब प्रकार से भगवान् की महिमा का वर्णन कर रहा हूँ। इस महिमा के गान का ही ऐसा प्रभाव है कि अविद्यावश संसार-चक्र में पड़ा हुआ जीव तत्काल पवित्र हो जाता है। इसी प्रकार एक और कार्पण्य का उदाहरण निम्न है—

“विदितमनन्त समस्तं तव जगदात्मनो जनैरिहाचरितम्।

विज्ञाप्यं परमगुरोः कियदिव सवितुरिव खद्योतैः।”²⁰⁹

अर्थात् हे अनन्त! आप सम्पूर्ण जगत् के आत्मा हैं। अतएव संसार में प्राणी जो कुछ करते हैं, वह सब आप जानते ही रहते हैं। इसलिये जैसे जुगनू सूर्य को प्रकाशित नहीं कर सकता, वैसे ही परमगुरु आपसे मैं क्या निवेदन करूँ। इस प्रकार स्पष्ट है कि अतिदीनता आराधक को आराध्य से जोड़ने का सबसे सुगम साधना पथ है। राम के दीनबन्धु रूप की स्मृति करते हुए तुलसी कहते हैं —

“ऐसे राम-दीन हितकारी।

अतिकोमल करुनानिधान बिनु कारन पर-उपकारी।।

साधन-हीन दीन निज अघ-बस, सिला भई मुनि-नारी।

गृहतेँ गवनि परसि पद पावन घोर सापतेँ तारी।।

हिंसारत निषाद तामस बपु, पसु-समान बनचारी।

भेंटयो हृदय लगाइ प्रेमबस, नहिं कुल जाति बिचारी।।

जद्यपि द्रोह कियो सुरपति-सुत, कहि न जाय अति भारी।

सकल लोक अवलोकि सोकहत, सरन गये भय टारी।।

बिहँग जोनि आमिष अहार पर, गीध कौन ब्रतधारी ।
 जनक—समान क्रिया ताकी निज कर सब भाँति सँवारी ॥
 अधम जाति सबरी जोषित जड़, लोक—बेद तें न्यारी ।
 जानि प्रीति, दै दरस कृपानिधि, सोउ रघुनाथ उधारी ॥
 कपि सुग्रीव बंधु—भय—ब्याकूल आयो सरन पुकारी ।
 सहि न सके दारुन दुख जनके, हत्यो बालि, सहि गारी ॥
 रिपुको अनुज बिभीषन निशिचर कौन भजन अधिकारी ।
 सरन गये आगे हवै लीन्हों भेंटयो भुजा पसारी ॥
 असुभ होइ जिन्हके सुमिरे ते बानर रीछ बिकारी ।
 बेद—बिदित पावन किये ते सब, महिमा नाथ! तुम्हारी ॥
 कहँ लगि कहौं दीन अगनित जिन्हकी तुम बिपति निवारी ।
 कलिमल—ग्रसित दासतुलसीपर, काहे कृपा बिसारी?"²¹⁰

अर्थात् दीनोंका ऐसा हित करने वाले श्रीरामचन्द्रजी हैं, वे अति कोमल, करुणाके भण्डार और बिना ही कारण दूसरों का उपकार करने वाले हैं। साधनोंसे रहित, दीन, गौतम ऋषि की स्त्री अहल्या, अपने पापों के कारण शिला हो गयी थी। उसे आपने घर से चलकर, अपने पवित्र चरण से छूकर, घोर शाप से छुड़ा दिया। हिंसा में रत गृह निषाद जिसका तामसी शरीर था, और जो पशुकी तरह वन में फिरता रहता था, उसे आपने वंश और जाति का विचार किये बिना ही, प्रेम के वश होकर हृदय से लगा लिया। यद्यपि इन्द्र के पुत्र जयंतने इतना भारी अपराध किया था, कि कुछ कहा नहीं जा सकता तथापि जब वह सब लोकों को देख फिरा और फिर शोक से व्याकुल होकर शरण में आया, तब उसका सारा भय दूर कर दिया। जटायु गीध पक्षी की योनिका था, सदा मांस खाया करता था। उसने ऐसा कौन—सा ब्रत धारण किया था कि जिसकी आपने अपने हाथ से, पिता के समान अन्त्येष्टि—क्रिया कर सब बातें सुधार दीं, अर्थात् मुक्ति प्रदान कर दी। शबरी नीच जाति की मूर्खा स्त्री थी। जो लोक और वेद दोनों से ही बाहर थी। परन्तु उसका सच्चा प्रेम समझकर कृपालु रघुनाथजी ने उसे भी कृपापूर्वक दर्शन देकर उद्धार कर दिया। सुग्रीव बन्दर अपने भाई (बालि)—के भय से व्याकुल होकर जब पुकारता हुआ आपकी शरण में आया, तब आप अपने उस दास का दारुण दुख नहीं सह सके और गालियाँ सहकर

भी बालिका वध कर डाला। विभिषन, शत्रु (रावण)—का भाई था और जाति का राक्षस था! वह किस भजन का अधिकारी था? किन्तु जब वह आपकी शरणमें आया तब आपने उसे आगे बढ़कर लिया और भुजा पसार कर हृदय से लगाया। बन्दर और रीछ ऐसे अधर्मी हैं कि उनका नाम तक लेनेसे अमंगल होता है, किन्तु हे नाथ! उनको भी आपने पवित्र बना दिया। वेद इस बात के साक्षी हैं। यह सब आपकी महिमा है। मैं कहाँ तक कहूँ ऐसे असंख्य दीन हैं, जिनकी विपत्तियाँ आपने दूर कर दी हैं, किन्तु न जाने इस तुलसीदास पर, जो कलियुग के पापों से जकड़ा हुआ है, आप कृपा करना क्यों भूल गये। इस प्रकार कार्पण्य में भक्त प्रभु के आगे अपनी निर्बलता खोलकर रख देता है, प्रभु की सर्वशक्तिमत्ता के सामने अपने कार्पण्य एवं दैन्य का प्रकाश करता है। आत्मनिवेदन का यह आवश्यक अंग है, सूरदास भी अपने आराध्य से यही कहते हैं कि—

“जौ पै तुमहीं बिरद बिसारौ ।

तौ कहौ कहाँ जाइ करुनामय, कृपिन करम कौ मारौ!

दीन—दयाल, पतित—पावन जस बेद बखानत चारौ ।

सुनियत कथा पुराननि, गनिका, ब्याध, अजामिल तारौ ॥

राग—द्वेष, बिधि—अबिधि, असुचि—सुचि, जिहिँ प्रभु जहाँ सँभारौ ।

कियौ न कबहुँ बिलंब कृपानिधि, सादर सोच निवारौ ॥

अगनित गुण हरि नाम तिहारै, अजौ अपुनपौ धारौ ।

सूरदास स्वामी, यह जन अब करत करत स्रम हारौ ।”²¹¹

अर्थात् “हे प्रभु! यदि आपने ही अपने सुयश को विस्मृत कर दिया है, तब बतलाइये मैं तुच्छ कर्मों का मारा कहाँ जाऊँ? आप दीन—दयाल, पतित—पावन हैं, आपके यश का वर्णन चारों वेद करते हैं। पुराणों में यह कथा सुनी है कि आपने गणिका, व्याध तथा अजामिल का उद्धार कर दिया। राग से, द्वेष से, विधिपूर्वक, विधिरहित होकर पवित्र अथवा अपवित्र, जिसने जहाँ जिस प्रकार आपका स्मरण किया, आपने उसका उद्धार किया। हे कृपा के सागर! आपने (भक्तों के उद्धार में) कभी भी देरी नहीं की, (वरन्) सम्मान पूर्वक (भक्तों के) कष्ट को दूर कर दिया। हे प्रभु! आपके अनेकों नाम तथा अनेकों गुण हैं। आज भी अपने प्रण को धारण कर लें। सूरदास कहते हैं कि हे स्वामी! आपका यह भक्त तो परिश्रम करते—करते थक गया है।”²¹² इस

प्रकार इस अवस्था में भक्त भगवान् ही की शरण में जाने की लालसा रखता है। अहंकार-शून्यता भगवत्कृपा से ही प्राप्त की जा सकती है। भक्त भगवान् का अनुगृह प्राप्त करने के हेतु व्याकुलता तथा व्यग्रता से उनकी उपासना करता है। भगवान् उसके दोषों को दूर करके उसे शरण में लेंगे। यह अटूट विश्वास भक्त के हृदय में रहता है। इस प्रकार सूरदास भगवान् की शरण में जाने को व्यग्र हैं। उन्हें भगवान् की सामर्थ्य में पूर्ण विश्वास है। भगवान् के अतिरिक्त वे किसी अन्य के कृतज्ञ नहीं होना चाहते।

4 भक्ति की भूमिकाएँ :-

भक्ति की सात प्रकार की भूमिकाएँ हैं— (1) दीनता (2) मानमर्षता (3) भयदर्शना (4) भर्त्सना (5) आश्वासन (6) मनोराज्य (7) विचारण।

4.1) दीनता—दीनता का अर्थ है— अपने को सब प्रकार से तुच्छ समझना। दीनता में भक्त अपने दोषों की स्वीकृति करते हुए स्वयं को धिक्कारता है। दैन्यभाव दास्य भक्ति का आधार है। दीनता में अपने पापों का वर्णन अपने आप आ जाता है। अपराधों का स्मरण हृदय के दैन्य को और अधिक उद्वेलित करता है, इसलिये सूरदास अपने कल्पित अपराधों की अभिव्यक्ति द्वारा हृदय के दैन्यभाव का चित्र उपस्थित करते हैं—

“कौन सुनै यह बात हमारी? समर्थ और देखौं तुम बिनु, कासौं बिथा कहौं बनवारी?

तुम अविगत, अनाथ के स्वामी, दीन-दयाल, निकुंज-बिहारी।

सदा सहाइ करी दासनि की, जो उर धरी सोइ प्रतिपारी।

अब किहँ सरन जाऊँ जादौपति, राखि लेहु बलि, त्रास निवारी।

सूरदास चरननि की बलि-बलि, कौन खता तैं कृपा बिसारी?।।²¹³

अर्थात् “हे बनवारी। हमारी यह बात कौन सुन सकता है? तुम्हारे अतिरिक्त किसी दूसरे को इसके समर्थ नहीं फिर देखा किससे अपनी व्यथा कहूँ? हे निकुंज विहारी! तुम अविज्ञात, अनाथों के स्वामी और दीनों पर दया करने वाले हो। तुमने सदैव से भक्तों की सहायता की है, जिसने (तुमको) हृदय में रक्खा उसकी ही तुमने रक्षा की। हे यादवपति! अब मैं किसकी शरण में जाऊँ? मैं तुम पर बलिहारी जाता

हूँ। दुःख दूर कर मुझे शरण दीजिये। सूरदास कहते हैं, मैं आपके चरणों की बार—बार बलिहारी जाता हूँ, किस अपराध से तुम मुझ पर कृपा करना भूल गये हो।”²¹⁴ इसी प्रकार कबीर भी प्रभु से दीनता पूर्वक प्रार्थना करते हैं कि हे प्रभु! मुझ दुःखी कबीर को आप शीघ्र दर्शन दीजिए।

“सुनहुं हमारी दादि गुसाईं, अब जिन करहु बधीर।

तुम्ह धीरज मैं आतुर स्वामीं, काचै भांडै नीर।।

बहुत दिनन कै बिछुरे माधौ, मन नहीं बांधै धीर।

देह छतां तुम्ह मिलहु कृपा करि, आरतिवंत कबीर।।”²¹⁵

अर्थात् “हे करुणा—निधान। आप मेरी पुकार सुन कर दया कीजिए, अब कृपा करने में तनिक भी विलम्ब मत कीजिए। हे प्रभु! आप धैर्य के साक्षात् स्वरूप हैं और मैं आतुरता का पुतला। वस्तुतः मेरा अस्तित्व तो कच्चे पात्र में भरे हुए जल के समान है, जो चाहे तब विनष्ट हो सकता है। हे माधव, प्रभु! मेरा और आपका वियोग बहुत समय से है, अतः मन आपके मिलनार्थ अधीर हो रहा है। अब शरीर क्षीण होता जा रहा है अतः दुखी कबीर को आप शीघ्र दर्शन दीजिए।”²¹⁶ कबीर की तरह ‘विनय पत्रिका’ में यत्र—तत्र—सर्वत्र गोस्वामी (तुलसी) ने अपने दोषों का स्वीकरण किया है। तुलसी अपने दोषों को प्रकाशित करने के उपरांत भगवान् राम से विनती करते हैं कि वे उन्हें अपने चरणों में स्थान प्रदान करें क्योंकि अन्य किसी भी उपाय से इतने बड़े ‘पापी’ का कल्याण असंभव है। “विनय—पत्रिका” के अनेकानेक पदों में तुलसी ने स्वयं को परम पापी, मूढ़, दंभी, लोभी अर्थात् अघ—ओघ की मूर्ति बतलाते हुए दीनतापूर्वक राम से भव—बन्धन काटने की प्रार्थना की है। ऐसे पदों से यह स्पष्ट हो जाता है कि भक्ति, विशेषतः दास्य भक्ति और प्रपत्ति में ‘अहम्’ विगलित होकर विलीन हो जाता है, जिससे अंतःकरण पावन एवं शुद्ध होता है।”²¹⁷ तुलसी जैसे महान् भक्त एवं संत द्वारा ऐसी दीन प्रार्थना करना इस तथ्य का ज्वलंत निदर्शन है कि भक्ति तथा प्रपत्ति में दंभ, अहंकार इत्यादि का एकांत अभाव है—

“कैसे देउँ नाथहिं खोरि।

काम—लोलुप भ्रमत मन हरि भगति परिहरि तोरि।।

बहुत प्रीति पुजाइबे पर, पूजिबे पर थोरि।

देत सिख सिखयो न मानत, मूढ़ता असि मोरि।।

किये सहित सनेह जे अघ हृदय राखे चोरि ।
 संग-बस किये सुभ सुनाये सकल लोक निहोरि ।।
 करौं जो कछु धरौं । सचि-पचि सुकृत-सिला बटोरी ।
 पैठि उर बरबस दयानिधि दंभ लेत अँजोरि ।।
 लोभ मनहिं नचाव कपि ज्यों गरे आसा-डोरि ।
 बात कहौं । बनाइ बुध ज्यों, बर बिराग निचोरि ।।
 एतेहुँ पर तुम्हरो कहावत, लाज अँचई घोरि ।।
 निलजता पर रीझि रघुबर, देहु तुलसिहिं छोरि ।।²¹⁸

अर्थात् स्वामी को कैसे दोष दूँ? हे हरे! मेरा मन तुम्हारी भक्ति को छोड़कर कामनाओं में फँसा हुआ इधर-उधर भटका करता है। अपने पुजाने में तो मेरा बड़ा प्रेम है, (सदा यही चाहता हूँ, कि लोग मुझे ज्ञानी-भक्त मानकर पूजा करें;) किन्तु तुम्हें पूजने में मेरी बहुत ही कम प्रीति है। दूसरों को तो खूब सीख दिया करता हूँ, पर स्वयं किसी की शिक्षा नहीं मानता। मेरी ऐसी मूर्खता है।। जिन-जिन पापों को मैंने बड़े अनुराग से किया था, उन्हें तो हृदय में छिपाकर रखता हूँ। पर कभी किसी अच्छे संग के प्रभाव से (बिना ही प्रेम) मुझसे जो कोई अच्छे काम बन गये हैं, उन्हें दुनिया को निहोरा कर-कर सुनाता फिरता हूँ। भाव यह कि मुझे कोई भी पापी न समझकर सब लोग बड़ा धर्मात्मा समझें।। कभी जो कुछ सत्कर्म बन जाता है उसे खेत में पड़े हुए अन्न के दानों की तरह बटोर-बटोरकर रख लेता हूँ, किन्तु हे दयानिधान! दम्भ जबरदस्ती हृदय में घुसकर उसे बाहर निकाल फेंकता है। भाव यह है कि दम्भ बढ़कर थोड़े-बहुत सुकृत को भी नष्ट कर देता है।।। इसके सिवा लोभ मेरे मन को आशारूपी रस्सी से इस तरह नचा रहा है, जैसे बाजीगर बन्दर के गले में डोरी बाँधकर उसे मनमाना नाच नचाता है । (इतने पर भी मैं दम्भ से) एक बड़े पण्डित की नाई परम वैराग्य के तत्त्व की बातें बना-बनाकर सुनाता फिरता हूँ। इतना (दम्भी) होने पर भी मैं (दास) तुम्हारा कहाता हूँ। लाज को तो मानो मैं घोलकर ही पी गया हूँ। हे रघुनाथ जी, तुम उदार हो, इस निर्लज्जता पर ही रीझकर तुलसी का बन्धन काट दो। (मुझे भव-बन्धन से मुक्त कर दो)। इस प्रकार दीनता दास्यभक्ति का आधार है। दास्यभाव की भक्ति में भावावेश की तीव्रता के लिए कुछ अधिक स्थान रहता है। इस प्रकार सांसारिक मोहमाया से ग्रस्त जीव

आर्त्त—स्वर में अपने रक्षक प्रभु को पुकार उठता है कि हे प्रभु! मेरी रक्षा करो। मैं दीन—हीन और क्षीण हूँ। इस प्रकार दीनता में भक्त अपनी लघुता तथा प्रभु की महत्ता का वर्णन करता है।

4.2) मानमर्षता— मानमर्षता का अर्थ है—अभिमान त्यागकर प्रभु की शरण में जाना। भक्ति के मार्ग में सबसे बड़ा प्रत्यूह है—आत्माभिमान। भक्त अपना अभिमान त्याग कर विनम्रता का वर्णन करता है। सूरदास ने भी अपने पदों में मानमर्षता का वर्णन किया है—

“मेरी कौन गति ब्रजनाथ?

भजन बिमुखऽक सरन नाहीं, फिरत विषयनि साथ ॥

हाँ प्रतित, अपराध—पूरन, भरयौ कर्म विकार ।

काम क्रोधऽरु लोभ चितवौ, नाथ तुमहिँ बिसार ॥

उचित अपनी कृपा करिहौ तबै तौ बनि जाइ ।

सोइ करहु जिहिँ चरन सेवै सूर जूठनि खाइ ॥”²¹⁹

अर्थात् “हे व्रज के स्वामी! मेरी क्या गति होगी? मैं भजन से विमुख विषयों में लिप्त रहता हूँ, कहीं अन्यत्र मुझे शरण नहीं है। मैं अत्यन्त पतित, अपराधों से पूर्ण तथा विकारयुक्त कर्मों से परिपूर्ण हूँ। हे नाथ, आपको भूलकर मैं काम—क्रोध तथा लोभ में ही अनुरक्त रहता हूँ। जब आप ठीक कृपा करेंगे तभी मेरी बिगड़ी बनेगी। हे प्रभु! वही कीजिए जिससे यह सूर आपकी जूठन खाते हुए चरण—सेवा में लग जाय।”²²⁰ इस प्रकार मानमर्षता में भक्त अपना अहंकार त्याग देता है तथा प्रभु की शरण में आ जाता है। तुलसी ने भी विनय—पत्रिका में अनेक पदों में अपने अभिमान का भंजन कर अपने प्रभु की कृपा के लिए अपनी आकांक्षा प्रकट की है। भक्त सबसे पहले अपने अहंकार पर ही विजय पाना चाहता है। विनय—पत्रिका के भक्त्यात्मक पदों में ऐसे बहुत—से पद हैं जिनमें हम तुलसी को मानमर्षता की भूमिका में विचरण करते देखते हैं। निम्नांकित पद में तुलसी ने स्पष्टतया अपने निराभिमान रूप को उपस्थित किया है—

“जौ पै जिय धरिहौ अवगुन जनके ।

तौ क्यों कटत सुकृत—नखते मो पै, बिपुल बृंद अघ—बनके ॥

कहिहै कौन कलुष मेरे कृत, करम बचन अरु मनके ।

हारहिं अमित सेष सारद श्रुति, गिनत एक—एक छनके ॥

जो चित चढ़ै नाम—महिमा निज, गुनगन पावन पनके ।

तो तुलसिहिं तारिहौ बिप्र ज्यों दसन तोरि जमगनके ॥²²¹

अर्थात् हे नाथ! यदि आप इस दास के दोषों पर ध्यान देंगे, तब तो पुण्यरूपी नखसे पापरूपी बड़े-बड़े वनों के समूह मुझसे कैसे कटेंगे? (मेरे जरा-से पुण्य से भारी-भारी पाप कैसे दूर होंगे?) ॥ मन, वचन और शरीर से किये हुए मेरे पापों का वर्णन भी कौन कर सकता है? एक-एक क्षण के पापों का हिसाब जोड़ने में अनेक शेष, सरस्वती और वेद हार जायेंगे। (मेरे पुण्यों के भरोसे तो पापों से छूटकर उद्धार होना असम्भव है।) यदि आपके मन में अपने नाम की महिमा और पतितों को पावन करनेवाले अपने गुणों का स्मरण आ जाय तो आप इस तुलसीदास को यमदूतों के दाँत तोड़कर संसार-सागर से अवश्य वैसे ही तार देंगे, जैसे अजामिल ब्राह्मण को तार दिया था। इस प्रकार तुलसीदास अपने आराध्य से अभिमान त्यागकर प्रार्थना करते हैं कि हे भगवान् आप मुझे इस संसार-सागर से पार उतारना तथा अजामिल ब्राह्मण की तरह मुझ पर भी दया करना। भक्त अपने अभिमान को त्यागकर प्रभु की शरण में जाता है क्योंकि वह जानता है कि ईश्वर के बिना उसका कोई हितैषी नहीं है। इसलिए वह प्रभु के साथ अपना सम्बन्ध जोड़ता है। यही बात कबीर भी अपने पदों में कहते हैं कि—

“अंधे हरि बिन को तेरा, कवन सूं कहत मेरी मेरा ।

तजि कुलाक्रम अभिमानां, झूठे भरमि कहा भुलानां ॥

झूठे तन की कहा बडाई, जे निमष मोंहि जरि जाई ।

जब लग नहिं बिकारा, तब लगि नहीं छूटै संसारा ॥

जब मन निरमल करि जानां, तब निरमल मांहि समानां ।

ब्रह्म अगनि ब्रह्म सोई, अब हरि बिन और न कोई ॥

जब पाप पुंनि भ्रम जारी, तब भयौ प्रकास मुरारी ।

कहै कबीर हरि ऐसा, जहां जैसा तहां तैसा ॥

भूलै भरमि परै जिनि कोई, राजा राम करै सो होई ॥²²²

अर्थात् “हे अज्ञानांध नर! ईश्वर के बिना तेरा कौन हितैषी है? तू किससे स्नेह सम्बन्ध जोड़ता है। कुलाभिमान एवं झूठे भ्रम का परित्याग करना ही श्रेयस्कर है।

मिथ्या, मृण्मय शरीर का अभिमान क्या, इसे नष्ट होते पल भी नहीं लगता। जब तक मन विषय-वासना में पड़ा हुआ है तब तक इस संसार से मुक्ति सम्भव नहीं। जब यह मन निर्मल हो जायेगा तभी उस शुद्ध स्वरूप ब्रह्म से भेंट सम्भव है। ब्रह्म ही अग्नि है, ब्रह्म ही सब कुछ है। प्रभु के बिना अब मेरा और कोई अवलम्ब नहीं। जब पाप-पुण्य और भ्रम की द्वैत भावना समाप्त हो गई, तभी ज्योतिस्वरूप परमात्मा का प्रकाश बिकीर्ण हुआ। कबीर कहते हैं कि वह प्रभु ऐसा अद्भुत है कि कहीं कैसा है तो कहीं किसी और स्वरूप का। भूल कर भी किसी को संसार संशय में संलिप्त नहीं होना चाहिए। इस संसार में वही होता है जो प्रभु को स्वीकार है।²²³ इस प्रकार भक्त अहंकार का त्याग कर प्रभु की शरण जाता है। आत्माभिमान अथवा दंभ भक्ति-मार्ग का बहुत बड़ा कंटक है। यही कारण है कि भक्त दंभ अथवा मान का मर्षण करने के लिए सदैव प्रयत्नशील रहता है। भक्त यह जानता है कि ईश्वर के बिना उसका कोई नहीं है इसलिए वह तो केवल भगवान् के 'दास' होने का 'अभिमान' कर सकता है।

4.3) भयदर्शन- भक्त स्वभावतः मन को ईश्वरोन्मुख करना चाहता है। किन्तु मन अपनी सहज प्रवृत्ति के अनुसार विषय-वासनोन्मुख होता है। जब शक्तिशाली मन सीधे-सीधे भक्ति में नहीं रमता तब उसे भय दिखलाया जाता है। यही भयदर्शन है। भक्त मन को इन्द्रिय-सुख की ओर जाने से रोकने के लिए भय दिखलाता है। भगवान् के प्रतिकूल चलने के कारण अर्थात् माया-मोह में फँसने के कारण होने वाली बुराइयों का भय दिखाकर मन को भगवान् की ओर उन्मुख करना। यही भय-दर्शन है। विनय-पत्रिका का पद (189)-

“राम कहत चलु, राम कहत चलु, राम कहत चलु भाई रे।
नाहिं तौ भव-बेगारि महुँ परिहै, छुटत अति कठिनाई रे।।
बाँस पुरान साज सब अठकठ, सरल तिकोन खटोला रे।
हमहिं दिहल करि कुटिल करम-चँद मंद मोल बिनु डोला रे।।
विषम कहार मार-मद-माते चलहिं न पाउँ बटोरा रे।
मंद बिलंद अभेरा दलकन पाइय दुख झकझोरा रे।।
काँट कुराय लपेटन लोटन ठावहिं ठाउँ बझाऊ रे।
जस जस चलिय दूरि तस तस निज बास न भेंट लगाऊ रे।।

मारग अगम, संग नहिं संबल, नाउँ, गाउँकर भूला रे।

तुलसिदास भव त्रास हरहु अब, होहु राम अनुकूला रे।।²²⁴

अर्थात् अरे भाई! राम—राम, राम—राम कहते चलो, नहीं तो कहीं संसार की बेगार में पकड़े जाओगे तो फिर छूटना अत्यन्त कठिन हो जायगा। राजा की बेगार से दो—चार दिनों में छूटा जा सकता है, पर संसार का जन्म मरण का चक्र तो ज्ञान न होने तक सदा चलता ही रहेगा। यदि राम—राम जपता चला जायगा, तो मायाजन्य विषयरूपी शत्रु तुझे बेगार में न पकड़ सकेंगे। क्योंकि राम के दास पर राम की माया नहीं चलती।। कुटिल कर्मचन्द ने (हमारे पूर्व—जन्मकृत पाप —कर्मों के प्रारब्ध ने) बिना ही मोल के (संसार—चक्र की कर्मानुसार स्वाभाविक गति के अनुसार) ऐसा बुरा खटोला (भजनहीन तामस प्रधान मनुष्य—शरीर) हमें दिया है कि जिसके पुराना तो बाँस (अनादिकालीन अविद्यामोह) लगा है, जिसके साज सब अंटसंट हैं, चित्त की तामस विषयाकार वृत्तियाँ हैं, (जिनके कारण शरीर से बुरे कर्म होते हैं— मनुष्य कुमार्ग में जाता है) जो सीधा तिकोन है (केवल अर्थ, काम और सकाम धर्म की प्राप्ति में ही लगा हुआ है, जिसे मोक्ष का ध्यान ही नहीं है)।। जिसके (उठाकर चलने वाले) कहार विषम हैं और काम के मदमें मतवाले हो रहे हैं (शरीर को चलाने वाली पाँच इन्द्रियाँ हैं, कहारों की जोड़ी होनी चाहिये, पाँच होने से जोड़ी नहीं है इसलिये विषम हैं, एक—से नहीं हैं और पाँचों ही इन्द्रियाँ विषय—भोगों के पीछे मतवाली हो रही हैं। कुकर्मों के कारण जब शरीर और मन ही तामस विषयाकार हैं, तब इन्द्रियाँ विषयों से हटी हुई कैसे हों?) और वे पाँव बटोरकर—समान पैर रखकर नहीं चलते। (इन्द्रियाँ अपने—अपने विषयों की ओर दौड़ती हैं) इससे कभी ऊँचे, कभी नीचे चलने से धक्के और झटके लगा रहे हैं, इस खींचतान में बड़ा ही दुःख हो रहा है। रास्ते में काँटे बिछे हैं, कंकड पड़े हैं, फिर ज्यों—ज्यों आगे बढ़ते हैं त्यों—ही—त्यों अपना घर दूर होता चला जा रहा है। और कोई राह बतानेवाला भी नहीं है। मार्ग बड़ा कठिन है, साथ में राह—खर्च नहीं है, यहाँ तक कि अपने गाँव का नाम तक भूल गये हैं; इसलिये हे श्री रामजी! अब आप ही कृपा करके इस तुलसीदास के (जन्म—मरणरूपी) संसार—भय को दूर कीजिये। इस प्रकार भयावह वस्तुओं और दृश्यों के दर्शन करके अथवा अपने संमुख भय उपस्थित देख कर भक्त प्रभु की शरण जाता है और अपनी भयभीत परिस्थिति का निवेदन करता है; जैसे:—

“अब कैँ राखि लेहु भगवान ।

हाँ अनाथ बैठयौ, द्रुम—डरिया, पारधि साधे बान ।।

ताकैँ डर मैं भाज्यौ चाहत, ऊपर दुक्यौ सचान ।

दुहूँ भाँति दुख भयौ आनि यह, कौन उबारै प्रान? ।।

सुमिरत ही अहि डस्यौ पारधी, कर छूटयौ संधान ।

सूरदास सर लग्यौ सचानहिँ जय—जय कृपानिधान ।।”²²⁵

अर्थात् “हे प्रभु, इस बार मेरी रक्षा करो। मैं अनाथ वृक्ष की डाल पर बैठा हूँ (मुझ पर) शिकारी ने बाण का निशाना लगाया है। उससे भयभीत होकर जब मैं भागना चाहता हूँ, तो ऊपर से बाज (झपटने के लिए) तैयार है। दोनों प्रकार से वह दुःख आ पड़ा है। (अब मेरी) प्राण—रक्षा कौन करे! (पक्षी के) प्रभु का स्मरण करते ही शिकारी को सर्प ने काट खाया। उसके हाथ से बाण छूटकर बाज के जा लगा। सूरदास कहते हैं कि (बहेलिया और बाज दोनों मर गये और मेरे प्राण बच गए) — ऐसे कृपा—निधान की जय—जय हो!”²²⁶ इस प्रकार भक्त को अपने आराध्य पर पूर्ण विश्वास होता है। इस कारण विषय—सुख को प्राप्त करने के लिए कटिबद्ध शक्तिशाली मन को अनेकानेक प्रकार के भय दिखला कर प्रभु—भक्ति में केन्द्रित करना। कबीर भी अपने मन को समझा कर कहते हैं कि

“जपि जपि रे जीयरा गोब्यंदो, हित चित परमानंदो रे ।

बिरही जन कौ बाल हौ, सब सुख आनंदकंदो रे ।।

धन धन झीखत धन गयौ, सो धन मिल्यौं न आये रे ।

ज्युं बन फूली मालती, जन्म अबिस्था जाये रे ।।

प्रांणी प्रीति न कीजिये, इहि झूठे संसारो रे ।

धूवां केरा धौलहर, जात न लागै बारो रे ।।

माटी केरा पूतला, काहे गरब कराये रे ।

दिवस चारि कौ पेखनौं, फिरि माटी मिलि जाये रे ।।

कांमीं राम न भावई, भावै—विषै बिकारो रे ।

लोह नाव पाहन भरी, बूडत नाहिं बारो रे ।।

नां मन मूवा न मरि सक्या, नां हरि भजि उतज्या पारो रे ।।

कबीरा कंचन गहि रह्यौ, कांच गहै संसारो रे ।।”²²⁷

अर्थात् "हे मन! तू हृदय को अमित आनन्द प्रदान करने वाले प्रभु नाम का स्मरण कर । समस्त सुखों की खान वे प्रभु अपने भक्तों के एकमात्र आधार हैं । सांसारिक धन के संचय में ही परमात्मा रूपी अमूल्य धन खो दिया जो पुनः कभी भी नहीं मिल सकता । जिस भाँति वन में फूली मालती का जन्म-वृथा ही बीत जाता है, वहाँ कोई रसपान करने वाला भौरा नहीं होता, उसी भाँति संसार से प्रीति-सम्बन्ध बनाना अच्छा नहीं, क्योंकि जगत् मिथ्या है । यह संसार तो धुएँ के महल सदृश है जिसके नष्ट होते देर नहीं लगती । इस मिट्टी के पुतले शरीर के लिए गर्व करना व्यर्थ है । कामी पुरुष को प्रभु नाम प्रिय न होकर विषयानन्द प्रिय होते हैं । एक तो गर्व दूसरे काम-पिपासा रूपी लोहे की पत्थर-भरी नाव को डूबने में समय भी नहीं लगता । न तो मन की चंचलता ही समाप्त हो सकी और न मृत्यु ही आई और न प्रभु-भजन कर संसार से मुक्ति का कार्य किया । कबीर कहते हैं कि हे मनुष्य! तुम प्रभु स्वरूप कंचन को पकड़े रहो संसार तो विषयानन्दों के कांच को पकड़ने में ही मस्त हैं।"²²⁸ इस प्रकार कबीर अपने मन को अनेक प्रकार से डराकर भगवान् राम की शरण में जाने का आग्रह कर रहे हैं क्योंकि भगवान् राम ही हमारे जीवन के आधार हैं, वही सत्य है, वही सच्ची भक्ति है । भगवान् की शरण में जाने पर व्यक्ति निश्चिन्त हो जाता है ।

4.4) भर्त्सना- मन बहुत शक्तिशाली होता है । दुर्वृत्तियों की ओर उसका सहज आकर्षण होता है । सद्वृत्तियों की अपेक्षा दुर्वृत्तियों में उसकी अधिक रुचि रहती है । यही कारण है कि भय दिखलाने पर भी मन इन्द्रिय-सुख का लोभ नहीं छोड़ पाता । इस स्थिति में भक्त उसे डाँटता है । इस प्रकार विषयासक्त मन को सन्मार्ग अर्थात् प्रभु-भक्ति अथवा राम-भक्ति के राजपथ पर चलाने के लिए डाँटना-फटकारना ही भर्त्सना है । भर्त्सना शब्द का अर्थ है- "भर्त्सनम्, भर्त्सना, भर्त्सितम् (भर्त्स्+ल्युट्+स्त्रियां टाप्, क्त वा) (1) धमकाना, घुड़कना (2) धमकी, झिड़की, (3) बुरा-भला कहना, गाली देना, (4) अभिशाप।"²²⁹ "इस प्रकार तुलसी ने अपने मन की भर्त्सना की है-

"ऐसी मूढता या मन की ।

परिहरि राम-भगति-सुरसरिता, आस करत ओसकनकी ।।

धूम-समूह निरखि चातक ज्यों, तृषित जानि मति घनकी ।

नहिं तहँ सीतलता न बारि, पुनि हानि होति लोचन की ।।

ज्यों गच—काँच बिलोकि सेन जड़ छाँह आपने तनकी ।

टूटत अति आतुर अहार बस, छति बिसारि आननकी ।।

कहँ लौं कहौं कुचाल कृपानिधि! जानत हौ गति जनकी ।

तुलसिदास प्रभु हरहु दुसह दुख, करहु लाज निज पनकी ।।²³⁰

अर्थात् इस मन की ऐसी मूर्खता है कि यह श्रीराम—भक्तिरूपी गंगाजी को छोड़कर ओसकी बूंदों से तृप्त होने की आशा करता है। जैसे प्यासा पपीहा धुएँ का गोठ देखकर उसे मेघ समझ लेता है, परन्तु वहाँ (जाने पर) न तो उसे शीतलता मिलती है और न ही जल मिलता है, धुएँ से आँखें और फूट जाती हैं। (यही दशा इस मन की है)। जैसे मूर्ख बाज काँचकी फर्श में अपने ही शरीर की परछाईं देखकर उस पर चोंच मारने से वह टूट जायगी इस बात को भूख के मारे भूलकर जल्दी से उस पर टूट पड़ता है (वैसे ही यह मेरा मन भी विषयों पर टूट पड़ता है) हे कृपा के भण्डार! इस कुचालका मैं कहाँ तक वर्णन करूँ? आप तो दासोंकी दशा जानते ही हैं। हे स्वामिन्! तुलसीदास का दारुण दुःख हर लीजिये और अपने (शरणागत—वत्सलतारूपी) प्रण की रक्षा कीजिये। इस प्रकार भक्त अपने मन को डाँट फटकार कर प्रभु की ओर उन्मुख करता है। मन को इस अवस्था में पहुँचाये बिना आत्म—निवेदन हो ही नहीं सकता; जैसे:—

“रे मन मूरख, जनम गँवायौ ।

करि अभिमान विषय—रस गीध्यौ स्याम—सरन नहिँ आयौ ।

यह संसार सुवा—सेमर ज्यौँ, सुंदर देखि लुभायौ ।

चाखन लाग्यौ रुई गई उड़ि हाथ कछू नहिँ आयौ ।

कहा होत अब पछिताए पहिलैँ पाप कमायौ ।

कहत सूर भगवंत—भजन बिनु, सिर धुनि—धुनि पछितायौ ।²³¹

अर्थात् “हे मूर्ख मन! तूने जन्म गँवा दिया। अभिमान के वशीभूत हो, तू विषयादिक में गिद्ध के समान लग गया है पर श्याम सुन्दर की शरण में नहीं आया। तोते को जैसा सेमर (लगता) है, तू इस सुन्दर संसार को देखकर तू मुग्ध हो गया है। तोता जब सेमर चखने लगा तो रुई उड़ गई और उसके हाथ में कुछ भी नहीं आया। पहले पाप करके बाद में पश्चात्ताप करने से क्या होता है? सूरदास कहते हैं कि

भगवान् के भजन के बिना सिर पीट-पीटकर तू पछताता है।²³² इसी प्रकार एक और उदाहरण निम्न है—

“(मन) राम—नाम—सुमिरन बिनु, बादि जनम खोयौ।

रंचक सुख कारन तैं अंत क्यौं बिगोयौ।।

साधु—संग, भक्ति बिना, तन अकार्थ जाई।

ज्वारी ज्यौं हाथ झारि, चालै छुटकाई।।

दारा—सुत, देह—गेह, संपत्ति सुखदाई।

इनमें कछु नाहिँ तेरौ, काल—अवधि आई।।

काम—क्रोध—लोभ—मोह—तृष्णा मन मोयौ।

गोबिंद—गुन चित बिसारि, कौन नींद सोयौ।।

सूर कहै चित बिचारि, भूल्यौ भ्रम अंधा।

राम—नाम भजि लै, तजि और सकल धंधा।।²³³

‘अर्थात् “हे मन, तूने राम नाम के स्मरण के बिना व्यर्थ में ही जन्म नष्ट कर दिया। थोड़े से सुखों के लिए तूने अपना अंत क्यों बेकार कर दिया? साधुओं के संग तथा ईश्वर की भक्ति के बिना तेरा शरीर व्यर्थ रहेगा। तुझे जुआरी की तरह हाथ झाड़कर चल देना होगा। पत्नी, पुत्र, शरीर, घर तथा संपत्ति सुख देने वाले हैं, परन्तु काल आने पर इन सबमें तेरा कुछ भी नहीं रहेगा। काम, क्रोध, लोभ, मोह तथा तृष्णा आदि ने तेरा मन मोह लिया है। तू हृदय से गोविंद को भुलाकर किस नींद में सोया है? सूरदास कहते हैं कि मन में सोच; तू अंधा होकर भ्रम में भूला पड़ा है। अन्य सब धन्धों को छोड़ राम नाम का भजन कर।²³⁴ इस प्रकार सूरदास अपने मन को फटकारते हुए कहते हैं कि हे मन! तू सब धन्धों को छोड़ कर राम नाम का भजन कर क्योंकि यह राम नाम ही तुझे भवसागर से पार लगायेगा अन्य किसी में इतनी सामर्थ्य नहीं है। क्योंकि राम ही समर्थ हैं। कबीर भी राम को ही अपने जीवन का आधार मानते हैं तथा कहते हैं कि—

“नर पछिताहुगे अंधा।

चेति देखि नर जमपुरि जैहै, क्युं बिसरौ गोब्यंदा।।

गरभ कुंडिजल जब तूं बसता, उरघ ध्यान ल्यौ लाया।

रघ ध्यान मृत मंडलि आया नरहरि नांव भुलाया।।

बालबिनोद छहं रस भीनां, छिन छिन मोह बियापै ।
 विष अंमृत पहिचांनन लागौ, पांच भांति रस चाखै ॥
 तरन तेज पर त्रिय मुख जोवै, सर अपसर नहीं जानैं ।
 अति उदमादि महामद मातौ, पाप पुंनि न पिछानैं ॥
 प्यंडर केस कुसुम भये धौंला, सेत पलटि गई बांनीं ।
 गया क्रोध मन भया जु पावस, कांम पियास मंदांनीं ॥
 तूटी गांठि दया धरम उपज्या, काया कबल कुमिलांनां ।
 मरती बेर बिसूरन लागौ फिरि पीछैं पछितांनां ॥
 कहै कबीर सुनहुँ रे संतौ, धन माया कछू संगि न गया ।
 आई तलब गोपाल राइ की, धरती सैन भया ॥²³⁵

अर्थात् "हे अज्ञानांध मनुष्य! सावधान हो जा, अन्यथा यमपुर जाते समय पछतायेगा, इसीलिए प्रभु को विस्मृत मत कर। जब तू गर्भवास में उल्टा लटका हुआ दारुण दुख भोगता था, तब प्रभु का भजन करता था किन्तु अब बाहर आने पर तू ईश्वर को विस्मृत कर बैठा। अब तो छहों रस से पूर्ण बाल-क्रीड़ाओं में आनन्दित हो प्रतिपल मोह बंधन में पड़ता जाता है। स्वाद की दृष्टि से अब तू कटु और मधुर को पहचानने लगा है, पाँच प्रकार के भोजनों का रस प्राप्त करता है। सुखशय्या पर अवसर-कुअवसर प्रत्येक समय पत्नी के साथ रति-क्रीड़ा में संलग्न रहता है। इस प्रकार मद में अन्धा पाप-पुण्य का विभेद भी भुला बैठा है। किन्तु अब वृद्धावस्था आने पर वे सुन्दर केश श्वेत हो गये और वाणी भी लड़खड़ाने लगी। अब क्रोध भी चला गया है और मन वर्षा के समान आर्द्र हो उठा है। काम-पिपासा अब मिट चुकी है। गर्व-गांठ के टूट जाने पर अब दया-धर्म जैसे गुणों की उद्भावना हुई है क्योंकि शरीर रूपी कमल मुरझा गया है। मृत्यु समय के दुखों को और स्मरण कर ले क्योंकि फिर तो पश्चात्ताप के अतिरिक्त और कुछ हाथ ही नहीं लगेगा। कबीर कहते हैं कि हे संत-गण! मनुष्य के साथ मृत्यूपरान्त धन-सम्पत्ति, माया आदि कुछ भी नहीं जाता। जब प्रभु की इच्छा होती है तो वह धरणी को ही शय्या में परिवर्तित कर देता है, मृत्यु बुला देता है।"²³⁶ इसलिए कबीरदास कहते हैं कि मनुष्य को हर समय ईश्वर का ध्यान करना चाहिए।

4.5) आश्वासन—भक्ति—मार्ग पर प्रथम चरण रखते ही भक्त के समक्ष यह शंका उपस्थित हो सकती है कि आंतरिक (इंद्रियगत—मनगत) एवं बाह्य (भौतिक या मायागत) दोनों ही ओर प्रबल शत्रुओं के रहते वह कैसे अविचलित रहेगा। अंतर्मन में भ्रमजन्य तर्क—बुद्धि अनेक प्रकार की शंकाओं को जन्म देती है, जिसके परिणामस्वरूप भक्त के परमात्म विमुख होने का भय बना रहता है। मन दिग्भ्रमित होकर ईश्वर के अस्तित्व अथवा उसकी शक्ति पर प्रश्नचिह्न लगा सकता है। इसके अतिरिक्त, मन के कंचन—कामिनी अथवा अर्थ—काम इत्यादि बाह्य दुर्वृत्तियों की ओर उन्मुख होने का भी भय बना ही रहता है। इस प्रकार की स्थितियों से बचने के लिए भक्त मन को आश्वासन देता है कि प्रभु की महिमा अपार है, उनकी शक्ति अमित है, उनका प्रभाव असीमित है। मन को आश्वस्त करने के लिए भक्त प्रभु के सर्वशक्तिमान रूप की स्मृति करता है। प्रभु की कृपा होने पर परम शक्तिमान शत्रु भी बाल तक बाँका नहीं कर सकता—

“जोपै कृपा रघुपति कृपालुकी, बैर औरके कहा सरै।

होइ न बाँको बार भगत को, जो कोउ कोटि उपाय करै॥

तकै नीचु जो मीचु साधुकी, सो पामर तेहि मीचु मरै॥

बेद—बिदित प्रह्लाद—कथा सुनि, को न भगति—पथ पाउँ धरै?

गज उधारि हरि थप्यो बिभीषन, ध्रुव अबिचल कबहूँ न टरै।

अंबरीष की साप सुरति करि, अजहूँ महामुनि ग्लानि गरै॥

सौँ धौँ कहा जु न कियो सुजोधन, अबुध आपने मान जरै।

प्रभु—प्रसाद सौभाग्य बिजय—जस, पांडवनै बरिआइ बरै॥

जोइ जोइ कूप खनैगो परकहँ, सो सठ फिरि तेहि कूप परै।

सपनेहूँ सुख न संतद्रोहीकहँ, सुरतरु सोउ विष—फरनि फरै॥

हैं काके द्वै सीस ईसके जो हठि जनकी सीवँ चरे।

तुलसिदास रघुबीर—बाहुबल सदा अभय काहू न डरै।²³⁷

अर्थात् यदि कृपालु रघुनाथ जी की कृपा है, तो दूसरों के वैर करने से उनका क्या काम निकल सकता है? भक्त का बाल भी बाँका नहीं होता, चाहे कोई करोड़ों उपाय क्यों न करे। जो नीच संत की मौत विचारता है, वह पामर स्वयं उसी मौत से मरता है। प्रह्लाद की कथा वेदों में प्रसिद्ध है, उसे सुनकर ऐसा कौन (अभागा)

होगा, जो भक्ति—मार्गपर पैर न रखेगा, यानी भक्ति न करेगा? श्री हरिने गजराज का उद्धार किया, विभीषण को राज्य—सिंहासन पर बैठाया, ध्रुव को ऐसा अटल पद दे दिया जो कभी हटता ही नहीं और अम्बरीष की तो बात ही निराली है, महामुनि (दुर्वासा) ने जो उनको शाप था, उसका परिणाम याद करके अब भी वे ग्लानि से गले जाते हैं, लाज से मरे जाते हैं। दुर्योधन ने अपनी जान में, ऐसी कौन—सी बुराई है जो पाण्डवों के साथ नहीं की वह मूर्ख अपने ही घंमंड में जलता रहा पर भगवान् की कृपा से सौभाग्य, विजय और यश ने पाण्डवों को ही हठपूर्वक अपनाया। जो दूसरे के लिये कुआँ खोदेगा, वह दुष्ट स्वयं उसी में गिरेगा। संतो के साथ वैर करने वाले को स्वप्न में भी सुख नहीं हो सकता। उसके लिये तो कल्पवृक्ष भी जहरीले फल ही फलेगा। किसके दो सिर हैं जो भगवान् के भक्त की सीमा लाँघेगा? हे तुलसीदास! जिसके श्री रघुनाथ जी का बाहु—बल सहायक है, वह सदा निर्भय है, किसी से भी नहीं डर सकता। इस प्रकार तुलसीदास अपने मन को भली—भाँति सान्त्वना प्रदान करते हैं, ढाढ़स बँधाते हैं कि प्रभु की वरद छाया जब तक उसके ऊपर विद्यमान है तब तक संसार के किसी भी वैरी द्वारा उसका अनिष्ट सम्भव नहीं। आश्वासन में प्रभु की उदारता, शरणागत वत्सलता और रक्षा का विश्वास रहता है। भक्त प्रभु की महनीय महत्ता से आश्वस्त हो जाता है। बड़ी से बड़ी विपत्ति में भी वह अपने साहस को नहीं छोड़ता। इसी प्रकार का विश्वास सूरदास को भी है—

“हृदय की कबहुँ न जरनि घटी।

बिनु गोपाल बिथा या तन की कैसेँ जाति कटी॥
 अपनी रुचि जित ही जित ऐँचति इंद्रिय—कर्म—गटी।
 हाँ तित हाँ उठि चलत कपट लगि, बाँधे नैन—पटी॥
 झूठौ मन, झूठी सब काया, झूठी आरभटी।
 अरु झूठनि के बदन निहारत मारत फिरत लटी॥
 दिन दिन हीन छीन भइ काया दुख—जंजाल—जटी।
 चिंता कीन्हँ भूख भुलानी, नीँद फिरति उचटी॥
 मगन भयौ माया—रस लंपट, समुझत नाहिँ हटी।
 ताकँ मूँड़ चढ़ी नाचति है मीचति नीच नटी॥

किंचित स्वाद स्वान—बानर ज्यौं, घातक रीति ठटी ।

सूर सुजल सींचियै कृपानिधि, निज जन चरन तटी ।²³⁸

अर्थात् "हृदय की जलन कभी कम नहीं हुई। बिना श्रीकृष्ण के इस शरीर का कष्ट कैसे कट सकता है! जिस ओर जिस इंद्रिय की रुचि कर्मों के समूह को खींचती है मैं उसी कपट की ओर होकर आँख पर पट्टी बाँधे चल देता हूँ। मन, शरीर तथा सभी लौकिक कर्म झूठे हैं तथा झूठे व्यक्तियों का मुँह देखते हुए मैं डींग मारता फिरता हूँ। यह शरीर प्रतिदिन हीन और क्षीण होता जा रहा है तथा दुःख और झंझट इसे जकड़े हुए है। चिन्ता करने के कारण भूख नहीं लगती तथा नींद उचाट हो गई है। मैं लंपट माया में मग्न हो गया हूँ अपना अच्छा—बुरा नहीं समझ पा रहा हूँ। इसके सिर पर मृत्यु नीच नर्तकी की भाँति चढ़ी नाच रही है जैसे थोड़े से स्वाद के लिए कुत्ता तथा स्वाति के लिए चातक एकचित्त रहता है (उसी प्रकार मैं विषय रस में एकचित्त हूँ) सूरदास कहते हैं कि हे कृपानिधान, अपने भक्तों की (पीड़ा) मिटाने के लिए सुन्दर जल सींच दीजिए।"²³⁹ इस प्रकार भक्त अपने प्रभु के सामर्थ्य का स्मरण दिलाकर दुख—दग्ध आत्मा को आश्वस्त करता है। कबीर को भी अपने राम पर इतना ही भरोसा है। कबीर लिखते हैं कि ईश्वर भजन का प्रताप इतना है कि जल पर पत्थर भी तैरने लगते हैं—

“है हरि भजन कौ प्रवांन ।

नीच पांवै ऊँच पदवी, बाजते नींसान ।।

भजन कौ प्रताप ऐसो, तिरे जल पाषान ।

अधम भील अजाति गनिका, चढ़े जात बिवांन ।।

नव लख तारा चलै मंडल, चलै ससिहर भांन ।

दास धूंकौ अटल पदवी, रामं को दीवांन ।।

निगम जाकी साखि बोलै, कहैं संत सुजांन ।

जन कबीर तेरी सरनि आयौ, राखि लेहु भगवांन ।।²⁴⁰

अर्थात् "प्रभु भजन महिमा का प्रमाण ऐसा है कि नीच व्यक्ति भी उच्चतम पद प्राप्त कर लेता है और उसके यहाँ ऐश्वर्यसूचक नगाड़े बजने लगते हैं। ईश्वर भजन का प्रताप है कि जल पर पत्थर भी तैरने लगते हैं। नीच भीलनी शबरी एवं वेश्या तक का प्रभु—भक्ति के द्वारा स्वर्गारोहण के लिए विमान प्राप्त हुए। राम भक्त के

सम्मानार्थ नौ लाख नक्षत्रगण एवं चन्द्र और सूर्य चले। ब्रह्म वास्तव में ऐसा ही अनुपम है। साधुगण कहते हैं कि वेदादि धर्मग्रन्थ भी उसकी अनुपमता की साक्षी देते हैं। हे प्रभु! दास कबीर आपकी शरण में आया है उसे आप अपनी शरण देकर रख लें।²⁴¹ इस प्रकार आश्वासन अर्थात् प्रभु की असीमित शक्ति पर विश्वास रखते हुए अबोध मन को विषय-वासनाओं रूपी शत्रुओं पर विजय का आश्वासन देना अथवा प्रबोध देना। इस प्रकार कबीर को अपने राम पर पूर्ण विश्वास है, उनकी असीमित शक्ति पर विश्वास है, उनके शरणागतवत्सल रूप पर पूर्ण भरोसा है। प्रभु शरण में आये हुए को अपने गले से लगाकर भव बन्धन से मुक्त कर देते हैं तथा भक्त को परम आनन्द से साक्षात्कार करवाते हैं।

4.6) मनोराज्य— मनोराज्य का भक्ति की दृष्टि से प्राविधिक अर्थ मनोकांक्षा है। इसकी भूमिका में आराध्य से मनोकांक्षापूर्ति की याचना की जाती है। गोस्वामी तुलसीदास भी प्रत्येक स्थान पर केवल और केवल रामभक्ति का ही वरदान मांगते हैं। उन्हें मोक्ष, ज्ञान, अर्थ, ऋद्धि-सिद्धि, सुयश कुछ भी नहीं चाहिए। संसार में अन्य जितने व्यक्तियों एवं वस्तुओं से उन्हें प्रेम है, वह (प्रेम) केवल राम में केन्द्रित हो जाए अर्थात् प्रेम हो तो केवल राम से—यह उनका एकमात्र मनोरथ है। हृदय की प्रेमवृत्ति का एकमात्र आलंबन भगवान् राम हों यह तुलसीदास की एकमात्र आकांक्षा है—

“यह बिनती रघुबीर गुसाईं ।

और आस-बिस्वास-भरोसो, हरो जीव-जड़ताई ॥

चहाँ न सुगति, सुमति संपति कछु, रिधि-सिधि बिपुल बड़ाई ।

हेतु-रहित अनुराग राम-पद बढ़े अनुदिन अधिकाई ॥

कुटिल करम लै जाहिं मोहि जहँ जहँ अपनी बरिआई ।

तहँ तहँ जनि छिन छोह छाँड़ियो, कमठ-अंडकी नाई ॥

या जगमें जहँ लगि या तनुकी प्रीति प्रतीति सगाई ।

ते सब तुलसिदास प्रभु ही सों होहिं सिमिटि इक ठाई ॥²⁴²

अर्थात् हे श्री रघुनाथ जी! हे नाथ! मेरी यही विनती है कि इस जीव को दूसरे साधन, देवता या कर्मों पर जो आशा, विश्वास और भरोसा है, उस मूर्खता को आप हर लीजिये। हे राम! मैं शुभगति, सदबुद्धि, धन-सम्पत्ति, ऋद्धि-सिद्धि और बड़ी

भारी बड़ाई आदि कुछ भी नहीं चाहता। बस, मेरा तो आपके चरण—कमलों में दिनों दिन अधिक—से—अधिक अनन्य और विशुद्ध प्रेम बढ़ता रहे, यही चाहता हूँ। मुझे अपने बुरे कर्म जबरदस्ती जिस—जिस योनि में ले जायँ, उस—उस योनि में ही हे नाथ! जैसे कछुआ अपने अंडों को नहीं छोड़ता, वैसे ही आप पलभर के लिये भी अपनी कृपा न छोड़ना। हे नाथ! इस संसार में जहाँ तक इस शरीर का (स्त्री—पुत्र—परिवारादि से) प्रेम, विश्वास और सम्बन्ध है, सो सब एक ही स्थान पर सिमटकर केवल आपसे ही हो जाय। मनोराज्य में यह समझ कर कि मुझे प्रभु ने अपना लिया है, भक्त निर्द्वन्द्व हो जाता है और अपने पावन मनोराज्य में विचरण करता है। नीचे लिखे पद इसी अवस्था के द्योतक है:—

“हमँ नंदनंदन मोल लिये।

जम के फंद काटि मुकराए, अभय अजाद किये ॥

भाल तिलक, स्त्रवननि तुलसीदल, मेटे अंक बिये।

मूँडयौ मूँड, कंठ बनमाला, मुद्रा—चक्र दिये ॥

सब कोउ कहत गुलाम स्याम कौ, सुनत सिरात हिये।

सूरदास कौँ और बड़ौ सुख जुठन खाइ जिये ॥”²⁴³

अर्थात् “हमें तो नन्दलाल ने खरीद लिया हे। (उन्होंने) यमराज के फंदे को काटकर अस्वीकार कर दिया और अभय दान देकर मुक्त कर दिया। नंदनंदन ने मेरे मस्तक पर तिलक और कानों में तुलसी देकर दूसरे अंक मिटा दिये। मेरा सिर मुड़ा दिया, कंठ में वनमाला और चक्र की मोहर लगा दी। सब लोग कहते हैं कि यह श्यामका दास हो गया है, जिसे सुनकर हृदय आनन्दित होता है। सूरदास को श्याम की जूठन खाकर जीने में तो और भी बड़ा आनन्द मिलता है।”²⁴⁴ इस प्रकार सूरदास को भगवान् की जूठन खाकर जीने में बहुत आनन्द आता है। कबीर का पद देखिए—

“राम चरन जाकै रिदै बसत है,ता जन कौ मन क्युं डोलै ॥

मानौं अठ सिध्य नव निधि ताकै, हरषि हरषि जस बोलै ॥

जहाँ जहाँ जाइ तहां सच पावै, माया ताहि न झोलै।

बारंबार बरजि विषिया तैं, लै नर जौ मन तोलै ॥

ऐसी जे उपजै। या जीय कै, कूटिल गांठि सब खोलै।।

कहै कबीर जब मन परचौ भयौ, रहै राम कै बोलै।।²⁴⁵

अर्थात् "कबीर कहते हैं कि जिसकी प्रभु के चरणों में वृत्ति रमी हुई होगी, उसका मन चंचल नहीं होता। उसे तो मानो अष्ट-सिद्धि एवं नवनिधि की सहज प्राप्ति हो जाती है एवं वह हर्षित हो-होकर प्रभु गुणगान करता है। वह जहाँ कहीं भी जाता है अभित शान्ति-लाभ करता है एवं माया उसे नहीं सताती। हे साँसारिक व्यक्ति! यदि तेरा मन विषय-वासना में भटकता है तो बारम्बार उसे वर्जित कर सुपंथ भक्ति-पर चलाओ। यदि मन इस प्रकार आचरण करे तो हृदय की समस्त कलुषता और पाप नष्ट हो जायें। कबीर कहते हैं कि जब मन का परम-तत्त्व से साक्षात्कार हो जाता है तो वह प्रभु का दास बना रहता है।"²⁴⁶ इस प्रकार मनोराज्य अर्थात् भक्त द्वारा प्रभु से अपनी मनोकांक्षा पूर्ति की याचना करना। भक्त को केवल रामभक्ति का वरदान ही चाहिए उसे अन्य किसी वस्तु को प्राप्त करने की कोई आकांक्षा नहीं होती है। 'विनयपत्रिका' प्रेषित करने का कारण ही राम का 'दास' बनने की स्पृहा है। अतः इस कृति में यत्र-तत्र-सर्वत्र इस अकांक्षा का व्यंजित होना स्वाभाविक है।

4.7) विचारणा- 'विचारणा' शब्द का अर्थ है- "(वि+चर्+णिच्+युच्+टाप्) (1) परीक्षण, विचार-विमर्श, गवेषणा (2) पुनर्विचार, सोच-विचार, चिन्तन, (3) संदेह, (4) दर्शनशास्त्र की मीमांसा पद्धति।"²⁴⁷ विचारण अथवा विचारणा की स्थिति में पहुँचने पर भक्त दर्शन-लोक में कदम रखता है यहाँ वह परमात्मा, जीवात्मा, जगत् इत्यादि से संबंधित अनेकानेक प्रश्नों का उत्तर प्राप्त करने का प्रयास करता है। आराध्य के वास्तविक रूप को जानने की अकांक्षा इसके मूल में कार्य करती है। विचारण की भूमिका में भक्त कवि दर्शन के लोक में पहुँचकर जीवात्मा एवं परमात्मा -सम्बन्धी अनेकानेक ग्रन्थियों को सुलझाने का प्रयत्न करता है। ऐसे पद विनयपत्रिका में अनेक हैं-

"केसव! कहि न जाइ का कहिये।

देखत तव रचना बिचित्र हरि! समुझि मनहिं मन रहिये।।

सून्य भीति पर चित्र, रंग नहिं, तनु बिनु लिखा चितेरे।

धोये मिटइ न मरइ भीति, दुख पाइय एहि तनु हेरे।।

रबिकर—नीर बसै अति दारुन मकर रूप तेहि माहिं ।

बदन—हीन सो ग्रसै चराचर, पान करन जे जाहिं ।।

कोउ कह सत्य, झूठ कह कोऊ, जुगल प्रबल कोउ मानै ।

तुलसिदास परिहरै तीन भ्रम, सौ आपन पहिचानै ।²⁴⁸

अर्थात् हे केशव! क्या कहूँ? कुछ कहा नहीं जाता! हे हरे! आपकी यह विचित्र रचना देखकर मन—ही—मन (आपकी लीला) समझकर रह जाता हूँ। कैसी अद्भुत लीला है कि इस (संसाररूपी) चित्र को निराकार (अव्यक्त) चित्रकार (सृष्टिकर्ता परमात्मा) ने शून्य (मायाकी) दीवार पर बिना ही रंग के (संकल्प से ही) बना दिया। (साधारण स्थूल—चित्र तो धोने से मिट जाते हैं, परन्तु) यह (महामायावी—रचित माया—चित्र) किसी प्रकार धोने से नहीं मिटता (साधारण चित्र जड़ है, उसे मृत्यु का डर नहीं लगता परन्तु) इसको मरण का भय बना हुआ है। (साधारण चित्र देखने से सुख मिलता है परन्तु) इस संसार रूपी भयानक चित्र की ओर देखने से दुःख होता है। सूर्य की किरणों में (भ्रम से) जो जल दिखायी देता है उस जल में एक भयानक मगर रहता है; उस मगर के मुँह नहीं है, तो भी वहाँ जो भी जल पीने जाता है, चाहे वह जड़ हो या चेतन, यह मगर उसे ग्रस लेता है। भाव यह कि यह संसार सूर्य की किरणों में जल के समान भ्रमजनित है। जैसे सूर्य की किरणों में जल समझकर उनके पीछे दौड़नेवाला मृग जल न पाकर प्यासा ही मर जाता है, उसी प्रकार इस भ्रमात्मक संसार में सुख समझकर उसके पीछे दौड़ने वालों का भी बिना मुखका मगर यानी निराकार काल खा जाता है। इस संसार को कोई सत्य कहता है, कोई मिथ्या बतलाता है और कोई सत्य—मिथ्या से मिला हुआ मानता है; तुलसीदास के मत से तो (ये तीनों ही भ्रम हैं) जो इन तीनों भ्रमों से निवृत्त हो जाता है (अर्थात् सब कुछ परमात्मा की लीला ही समझता है), वही अपने असली स्वरूप को पहचान सकता है। इस प्रकार विचारणा में अपने पापों का स्मरण और पश्चाताप की भावनाएँ रहती हैं। पापों के स्मरण में अपने दोषों, अपराधों अथवा कुत्सित कृत्यों पर भक्त का ध्यान जाता है; परन्तु पश्चाताप में विशेष रूप से सत्कृत्यों पर उसकी दृष्टि रहती है, जिन्हें वह सम्पादित नहीं कर सका। दशाओं में वह अपने मन में ही मन्थन करता रहता है। इसी कारण इसे विचारणा का नाम दिया गया है। सूर की रचनाओं में विचारणा का यह भाव विद्यमान है—

“बिनती करत मरत हौं लाज ।

नख-सिख लौं मेरी यह देही है पाप की जहाज ॥

और पतित आवत न आँखि-तर देखत अपनौ साज ।

तीनीं पन भरि ओर निबाह्यौ तरु न आयौ बाज ॥

पाछ भयौ न आगँ हवै है, सब पतितनि सिरताज ।

नरकौ भज्यौ नाम सुनि मेरौ, पीठि दई जमराज ॥

अबलौं नान्हे-नून्हे तारे, ते सब वृथा अकाज ।

साँच बिरद सूर के तारत, लोकनि-लोक अवाज ॥”²⁴⁹

अर्थात् “बिनती करते हुए भी मैं लाज से मरा जा रहा हूँ। नीचे से ऊपर तक मेरा शरीर पाप के जहाज के समान है। अपने साज को देखते हुए मुझे अपने जैसा कोई पतित दिखाई नहीं देता। तीनों पन (बालपन, युवावस्था, प्रौढ़ावस्था) लगभग पूरे निभा दिये, फिर भी बाज नहीं आया। (दुष्कर्मों में) मैं किसी से पीछे न होकर सबसे आगे ही रहा तथा सभी पतितों का सिरमौर हूँ। मुझ जैसे का नाम सुनकर नरक भी भाग गया है, यमराज ने मुँह मोड़ लिया है। प्रभु, अब तक तो आपने छोटे-छोटे पतितों का ही उद्धार किया है; वह सब व्यर्थ है, बेकार है। तो तुम्हारा यश तब सच्चा है जब तुम सूरदास (जैसे पापी) का उद्धार करो, (इससे) सभी लोकों में तुम्हारा यशोगान होगा।”²⁵⁰ इस प्रकार सूरदास अपने भगवान् से अपने उद्धार की प्रार्थना कर रहे हैं कि हे भगवान् जब आप मुझ जैसे पापी का उद्धार करेंगे तभी सभी लोकों में आपका यशोगान होगा। कबीर भी विचारण करते हुए लिखते हैं कि -

“लोका मति के भोरा रे ।

जौ कासी तन तजै कबीरा, तौ रामहि कहा निहोरा रे ॥

तब हम वैसे अब हम ऐसे, इहै जनम का लाहा ।

ज्यूं जल मैं जल पैसि न निकसै, यूं दुरि मिल्या जुलाहा ॥

राम भगति परि जाकौ हित चित, ताकौ अचिरज काहा ।

गुर प्रसाद साध की संगति, जग जीतें जाइ जुलाहा ॥

कहै कबीर सनहुं रे संतौ, भ्रमि परे जिनि कोई ।

जस कासी तस मगहर ऊसर, हिरदै राम सति होई ॥”²⁵¹

अर्थात् "हे साधु! हम तो साधारण बुद्धिधारी हैं, यह जानते हैं कि यदि यहां काशी करवट लेकर प्राण गवा बैठे तो फिर प्रभु राम को किस भाँति मुंह दिखा सकते हैं? तब काशी-करवट से तो हम वैसे ही पाप-भागी बन जायेंगे? यदि अब पापी हैं तो इस जन्म का लाभ प्राप्त कर प्रभु भक्ति द्वारा पाप-प्रक्षालन का प्रयत्न तो कर लेंगे। जिस प्रकार जल में जल मिल जाने पर उसी जल को पुनः अलग नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार मुझ कबीर जुलाहे के धूलि में मिल जाने पर पुनः शरीर रचना नहीं हो सकती। जिस व्यक्ति को ईश्वर भक्ति में कुशलता दृष्टिगत होती हो, भला उसका अहित कैसे हो सकता है? गुरु-उपदेश पर एवं साधु-संगति से कबीर जुलाहा समस्त संसार पर आध्यात्मिक विजय प्राप्त कर लेगा। कबीर कहते हैं कि हे सन्ता! माया भ्रम का परित्याग कोई बिरला ही कर पाता है। यदि हृदय में राम-नाम का दृढ़ सम्बल हो तो काशी और मगहर में शरीर-त्याग समान है।"²⁵² इस प्रकार भक्त हर जगह अपने ईश्वर की महिमा ही देखता है और उसे संपूर्ण विश्व ईश्वरमय ही दिखाई देता है।

5 भक्ति की उपादेयता:—

भक्ति हमारे मन का विस्तार करती है। हमारे विवेक को जागृत करती है। इसके द्वारा हमारे चित का उदात्तीकरण होता है और यही मनुष्य को मनुष्य बनाती है।

(क) भक्ति से विवेक की प्राप्ति होती है। तुलसीदास ने बालकाण्ड में लिखा है कि—

"बिनु सत्संग बिबेक न होई। राम कृपा बिनु सुलभ न सोई।।

सत्संगत मुद मंगल मूला। सोई फल सिधि सब साधन फूला।।"²⁵³

अर्थात् सत्संग के बिना विवेक नहीं होता और श्रीरामजी की कृपा के बिना वह सत्संग सहज में मिलता नहीं। सत्संगति आनन्द और कल्याण की जड़ है। सत्संग की सिद्धि (प्राप्ति) ही फल है और सब साधन तो फूल हैं। इस प्रकार यदि जीवन में आनन्द प्राप्त करना है तो श्रीरामजी की कृपा प्राप्त करनी होगी और श्रीरामजी की कृपा भक्ति के बिना संभव नहीं है।

(ख) विवेक से सत्य—असत्य का भेद समझ में आता है। मनुष्य को भक्ति के माध्यम से पता चलता है कि यह संसार नश्वर है, असत्य है। केवल ईश्वर ही सत्य है। विवेक जागृत होने पर समस्त लौकिक पदार्थों के प्रति आकर्षण समाप्त हो जाता है। भक्त को केवल अपने आराध्य से ही अनुराग होता है तथा संसार की सभी वस्तुओं से आसक्ति नष्ट हो जाती है। मनुष्य जब जन्म लेकर इस संसार में आता है तब माया के कारण उसे यह संसार सत्य प्रतीत होता है। वह सांसारिक कामनाओं की पूर्ति में लगा रहता है लेकिन जब उसे भगवद् अनुग्रह से भक्ति प्राप्त होती है तब उसके मायारूपी सब बन्धन टूटने लगते हैं तथा संसार जो उसे सत्य लग रहा था वही उसे मिथ्या प्रतीत होना लगता है। संसार से विरक्ति होने लगती है तथा ईश्वर से निस्वार्थ प्रेम होने लगता है और देखते ही देखते जीवन ईश्वरमय हो जाता है। विवेक जागृत होने पर केवल ईश्वर में आसक्ति रहती है। ईश्वर के प्रति जब मन में प्रेम या अनुराग उत्पन्न होता है तो हृदय में भक्ति का प्रवाह शुरू हो जाता है और मनुष्य को हर जगह अपने ईश्वर का स्वरूप और उसकी महिमा दिखाई देती है। इस प्रकार भक्ति के द्वारा मनुष्य आनन्दमय परमात्मा में लीन हो जाता है। आनन्द में विलीन हो जाना ही मानव—जीवन का चरम उद्देश्य है।

(ग) असत्य के त्याग एवं सत्य के ग्रहण की सामर्थ्य आती है। भक्ति के माध्यम से दया, क्षमा, करुणा, परदुःखकातरता आदि सत्य भावों का उपस्थापन होता है और समाज स्वच्छ एवं आदर्श रूप में सुविकसित होता है तथा मनुष्य समर्थक सामाजिक मर्यादाएँ पुष्ट होती हैं और मानव मूल्यों का पोषण होता है। हम कह सकते हैं कि आदर्श जीवन के लिए यह मार्ग बहुत ही उत्तम कोटि का है।

(घ) सभी एक ब्रह्म की संतान हैं। भक्ति के माध्यम से मनुष्य को पता चलता है कि सभी में उसी ब्रह्म का अंश है। सभी में एक ही ज्योति है। भक्ति के माध्यम से ही मनुष्य पशुता को छोड़कर मनुष्यता की ओर अग्रसर होता है। मनुष्य में करुणा का भाव जागृत होने के पश्चात् वह हिंसा से अहिंसा की ओर यात्रा करता है तथा जिस समाज में हिंसा नहीं होगी वहाँ पर मनुष्य भय से मुक्त होकर स्वच्छन्द विचरण कर सकेगा। भक्ति के कारण मनुष्य का मानसिक संतुलन ठीक रहता है जिस कारण हम अनेक समस्याओं का निराकरण करने में सफल होते हैं। वस्तुतः

भक्ति न केवल भक्त का ही उद्धार करती है बल्कि समाज को स्वच्छ स्वरूप प्रदान करने में भी सहायक होती है।

(ड) भेद का नाश— भक्ति के माध्यम से अपने-पराये का भेद मिट जाता है तथा भक्त प्राणी मात्र में भगवान् के ही दर्शन करता है वह हर जगह अपने ईश्वर का स्वरूप और उसकी महिमा देखता है। भेद का नाश होने पर भक्त समस्त प्राणियों के प्रति प्रेमवान् और घृणा शून्य हो जाता है। जब तक भक्ति का उदय नहीं होता तब तक संसार ही संसार रहता है और भक्ति का उदय हो जाने पर हरि ही हरि रह जाते हैं। यही शीतलता और समता की अवस्था है। इस अवस्था में पहुँच कर मनुष्य स्वयं के साथ-साथ लोक को प्रकाशित करता है। यही परमानंद की अवस्था है। भक्ति के माध्यम से मनुष्य की सांसारिक इच्छाओं की पूर्ण समाप्ति हो जाती है तथा उसका जीवन आनन्दमय हो जाता है। भक्ति से भक्त स्वयं तर कर दूसरों को तार सकता है और उसी से लोक का वास्तविक कल्याण होता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि भक्ति ही भवसंतप्त जीव की दुखनिवृत्ति का उपाय है। जीव ही नहीं पूरे विश्व के कल्याण का सुभार भक्ति-मार्ग पर ही निर्भर करता है। भक्ति का आविर्भाव होने से समाज अहिंसा के मार्ग की ओर अग्रसर होगा। मनुष्य भयरहित वातावरण में विचरण करेगा तथा मनुष्य का मानसिक संतुलन ठीक रहने से सौहार्द तथा प्रेम का वातावरण बनेगा तथा मनुष्य मनुष्यता की ओर अग्रसर होगा जो कि पशुता की ओर हो रहा है। इस प्रकार व्यक्ति, समाज तथा विश्व का संभवतः ही कल्याण होगा।

संदर्भ—सूची

- 1 वर्मा, धीरेन्द्र: 'हिन्दी साहित्य कोश भाग-1', (पारिभाषिक शब्दावली), ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, संस्करण: सं. 2020, पृ० 570
- 2 वरदराजाचार्य: 'लघु सिद्धान्त कौमुदी', गीताप्रेस गोरखपुर, संस्करण: वि.सं.2066, पृ० 100
- 3 स्वामी ब्रह्मलीनमुनि: 'पातञ्जलयोगदर्शनम्', चौखम्भा संस्कृत संस्थान वाराणसी (भारत), द्वितीय संस्करण: सं. 2027, पृ० 6
- 4 वही, पृ० 6
- 5 गोयन्का, हरिकृष्णदास(सं.): 'श्रीमद्भगवद्गीता', घनश्यामदास जालान गीताप्रेस गोरखपुर, द्वितीय संस्करण: सं. 2007, (छठा अध्याय, 34वाँ श्लोक), पृ० 224
- 6 वही, छठा अध्याय, 35वाँ श्लोक, पृ० 224
- 7 मिश्र, बलदेव प्रसाद: 'तुलसी-दर्शन', हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, चतुर्थ संस्करण: सं. 2013, पृ० 68
- 8 आप्टे, वामन शिवराम: 'संस्कृत-हिन्दी कोष' (छात्र-संस्करण), नाग प्रकाशक, 11 ए/यू.ए. जवाहर नगर, दिल्ली-7, संस्करण: सं. 1988, पृ० 981
- 9 श्यामसुन्दरदास (सं.): 'हिन्दी-शब्दसागर अर्थात् हिन्दी भाषा का एक बृहत् कोश (चौथा भाग)', काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा, संस्करण: सं. 1928, पृ० 3237
- 10 आप्टे, वामन शिवराम: 'संस्कृत-हिन्दी कोष पृ० 726
- 11 श्यामसुन्दरदास (सं.): 'हिन्दी-शब्दसागर अर्थात् हिन्दी भाषा का एक बृहत् कोश (तीसरा भाग)', काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा, इण्डियन प्रेस, प्रयाग, संस्करण: सं. 1088, पृ० 465
- 12 वर्मा, धीरेन्द्र: 'हिन्दी साहित्य कोश भाग-1', पृ० 570
- 13 पाण्डेय राजबली(सं.): 'हिन्दू धर्म कोश', राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन हिन्दी भवन महात्मा गाँधी मार्ग, लखनऊ, द्वितीय संस्करण: सं. 1988, पृ० 464
- 14 शर्मा, राणाप्रसाद: 'पौराणिक कोश', ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, संस्करण: सं. 2028, पृ० 365
- 15 वर्मा, रामचन्द्र: 'मानक हिन्दी कोश (चौथा खंड)', हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, संस्करण: सन् 1965, पृ० 188
- 16 वर्मा, रामचन्द्र: 'लोकभारती प्रामाणिक हिन्दी कोश', लोकभारती प्रकाशन, 15-ए, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद-1, तृतीय संशोधित संस्करण: 1996, पृ० 615
- 17 शर्मा, स्व. चतुर्वेदी द्वारकाप्रसाद: 'संस्कृत-शब्दार्थ-कौस्तुभ', रामानारायण लाल बेनीप्रसाद इलाहाबाद-211002, चतुर्थ संस्करण: 1977, पृ० 841

-
- 18 श्रीवास्तव, मुकुन्दीलाल: 'ज्ञान शब्द कोश', ज्ञानमण्डल लिमिटेड, बनारस, संस्करण: ज्येष्ठ सं. 2023, पृ.590
- 19 शर्मा, लीलाधर 'पर्वतीय': 'भारतीय संस्कृति कोश', राजपाल एण्ड सन्ज, कश्मीरी गेट, दिल्ली, संस्करण: 1996, पृ. 625-626
- 20 नारद भक्ति सूत्र, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, संस्करण: सं. 2008, पृ. 2
- 21 शास्त्री, रामसरूप: 'आदर्श-हिन्दी-संस्कृत-कोश:', चौखम्बा विद्याभवन, चौक, वाराणसी-1, संस्करण: 1957 ई, पृ. 401
- 22 शर्मा, वेंकट: 'भक्तिकाव्य का अंतर्दर्शन', पल्लव प्रकाशन दिल्ली, संस्करण: 1986, पृ. 12
- 23 पाण्डेय, रामनारायण: 'भक्तिकाव्य में रहस्यवाद', नेशनल पब्लिशर्स, हाउस दिल्ली, संस्करण: 1966, पृ. 251
- 24 शर्मा, सत्यनारायण: 'रामचरित मानस में भक्ति', सरस्वती पुस्तक सदन, आगरा-3, प्रथम संस्करण: 1970, पृ. 4
- 25 वही, पृ. 7
- 26 मिश्र, बलदेव प्रसाद: 'तुलसी-दर्शन', पृ. 66
- 27 नारद भक्तिसूत्र, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, संस्करण: सं. 2008, पृ. 2-7
- 28 वही, पृ. 6
- 29 मिश्र, बलदेव प्रसाद: 'तुलसी-दर्शन', पृ. 73
- 30 द्विवेदी, हजारी प्रसाद: 'विचार और वितर्क', साहित्य भवन (प्रा.) लिमिटेड इलाहाबाद-3, संस्करण: 1969 ई., पृ.12
- 31 महर्षि वेदव्यास: 'श्री मद्भागवतमहापुराणम्', घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस गोरखपुर, प्रथम स्कन्ध, द्वितीय अध्याय, षष्ठ पद (1,2,6), संस्करण: सं. 2071, पृ. 51
- 32 गुप्त, मुनिलाल (अनु.): 'श्री श्री विष्णु पुराण', घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर, प्रथम अंश, बीसवाँ अध्याय, 19वाँ श्लोक, चतुर्थ संस्करण: सं. 2014, पृ. 487
- 33 तुलसीदास: 'विनय-पत्रिका', गीताप्रेस, गोरखपुर, संस्करण: सं. 2065, पृ. 329-330
- 34 वही, पृ. 330
- 35 भाटी, देशराज सिंह: 'रसखान ग्रन्थावली', (रसखान तथा उनके काव्य का आलोचनात्मक तथा व्याख्यात्मक अध्ययन) नमन प्रकाशन, नई दिल्ली-110002, प्रथम संस्करण: 2004, पृ. 57
- 36 वही, पृ. 57
- 37 रूपगोस्वामी: 'श्री श्री भक्तिरसामृतसिन्धु', मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स प्राइवेट लिमिटेड दिल्ली, प्रथम संस्करण: सं. 2003, पृ. 34
- 38 वही, पृ. 34

- 39 श्यामसुन्दरदास (सं.) : 'कबीर ग्रंथावली', नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, सातवाँ संस्करण: सं. 2016, पृ. 32
- 40 वही, पृ. 32
- 41 वही, पृ. 34
- 42 वही, पृ. 34
- 43 आप्टे, वामन शिवराम: 'संस्कृत-हिन्दी कोश', (छात्र-संस्करण), पृ. 796
- 44 श्यामसुन्दरदास (सं.) : 'हिन्दी-शब्दसागर अर्थात् हिन्दी भाषा का एक बृहत् कोश', (तीसरा भाग), काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा, संस्करण: सं. 1925, पृ. 2726-2727
- 45 श्यामसुन्दरदास (सं.) : 'कबीर ग्रंथावली', पृ. 181
- 46 वेदव्यास: 'श्रीमद्भागवतमहापुराण (प्रथम खण्ड)', (स्कन्ध 1 से 8 तक)', पृ.-226
- 47 सूरती, उर्वशी: 'कबीर जीवन और दर्शन', लोकभारती प्रकाशन 15-ए, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद-1, संस्करण: 1980, पृ.-164
- 48 श्यामसुन्दरदास (सं.): 'कबीर ग्रंथावली, पृ.-151
- 49 त्रिगुणायत, गोविन्द: 'हिन्दी की निर्गुण काव्यधारा और उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि', साहित्य निकेतन कानपुर, संस्करण: 1961, पृ.-436
- 50 मिश्र, बलदेव प्रसाद: 'तुलसी-दर्शन', पृ० 184
- 51 श्यामसुन्दरदास (सं.): 'कबीर ग्रंथावली', पृ. 32
- 52 श्यामसुन्दरदास (सं.): 'हिन्दी-शब्दसागर अर्थात् हिन्दी भाषा का एक बृहत् कोश (तीसरा भाग)', पृ. 2280
- 53 आप्टे, वामन शिवराम: 'संस्कृत-हिन्दीकोश (छात्र-संस्करण), पृ. 696
- 54 वेदव्यास: 'श्रीमद्भागवतमहापुराण (प्रथम खण्ड)', पृ. 844
- 55 वर्मा, रामकुमार: 'कबीर का रहस्यवाद', (कबीर के दार्शनिक विचारों का गंभीर विवेचन), साहित्य भवन (प्रा.) लिमिटेड इलाहाबाद-3, ग्यारहवाँ संस्करण: 1972, पृ.7
- 56 वर्मा, रामकुमार: 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास', (संवत् 750-1750) रामनारायण लाल, प्रयाग, संस्करण: 1958, पृ. 197
- 57 श्यामसुन्दरदास (सं.): 'कबीर ग्रंथावली', पृ. 35
- 58 त्रिगुणायत, गोविन्द: 'कबीर की विचारधारा', साहित्य-निकेतन, कानपुर, द्वितीय संस्करण: सं. 2014, पृ. 245-246
- 59 मिश्र, बलदेव: 'तुलसी-दर्शन', पृ० 185
- 60 श्यामसुन्दरदास (सं.): 'कबीर ग्रंथावली', पृ. 130
- 61 बड़थवाल, पीताम्बरदत्त: 'हिन्दी काव्य में निर्गुण संप्रदाय', अवध पब्लिशिंग हाउस पानदरीबा: चारबाग: लखनऊ, संस्करण: 2007 वि.,पृ. 193
- 62 उपाध्याय, बलदेव: 'भारतीय-दर्शन', शारदा मन्दिर 29/17 गणेश दीक्षितलेन, बनारस, चतुर्थ संस्करण: सन् 1949, पृ. 423
- 63 वही, पृ. 420

- 64 श्यामसुन्दरदास (संपा.): 'कबीर ग्रंथावली', पृ. 151
- 65 वर्मा, रामकुमार: 'कबीर का रहस्यवाद', (कबीर के दार्शनिक विचारों का गंभीर विवेचन), पृ. 22
- 66 त्रिगुणायत, गोविन्द: 'हिन्दी की निर्गुण काव्यधारा और उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि', पृ. 578
- 67 गुप्त, गणपतिचन्द्र: 'महादेवी: नया मूल्यांकन', लोकभारती प्रकाशन, पहली मंजिल, दरबारी बिल्डिंग महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद-1, संस्करण: 2008, पृ. 161
- 68 श्यामसुन्दरदास (संपा.): 'कबीर ग्रंथावली', पृ. 7
- 69 वर्मा, रामकुमार: 'कबीर का रहस्यवाद', पृ. 13
- 70 वही, पृ. 14-15
- 71 वही, पृ. 14
- 72 श्यामसुन्दरदास (सं.) 'हिन्दी-साहित्य', इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग, संस्करण: सं. 1653, पृ. 154
- 73 श्यामसुन्दरदास (संपा.): 'कबीर ग्रंथावली', पृ. 11
- 74 वही, पृ. 24
- 75 वही, पृ. 38
- 76 वही, पृ. 14
- 77 वही, पृ. 14
- 78 श्यामसुन्दरदास (सं.): 'हिन्दी-साहित्य', पृ. 154
- 79 आप्टे, वामन शिवराम: 'संस्कृत-हिन्दी कोश', पृ. 250
- 80 श्यामसुन्दरदास (सं.): 'हिन्दी-शब्दसागर अर्थात् हिन्दी भाषा का एक बृहत् कोश', (पहला भाग), काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा, संस्करण: सं. 1916, पृ. 479
- 81 शुक्ल, रामचन्द्र: 'चिन्तामणि भाग-1' वाणी प्रकाशन, 21-ए, दरियागंज, नयी दिल्ली (110002), प्रथम संस्करण: 2007, पृ. 39
- 82 वही, पृ. 40
- 83 वही, पृ. 43
- 84 आप्टे, वामन शिवराम: 'संस्कृत-हिन्दी कोष', पृ. 1925-1926
- 85 श्यामसुन्दरदास (सं.): 'हिन्दी-शब्दसागर अर्थात् हिन्दी भाषा का एक बृहत् कोश (चौथा भाग)', पृ. 3668-3669
- 86 वर्मा, धीरेन्द्र: 'हिन्दी साहित्य कोश', भाग 1, पृ. 940
- 87 वही, पृ. 940
- 88 मिश्र, बलदेव प्रसाद: 'तुलसी-दर्शन', पृ. 107
- 89 वर्मा, धीरेन्द्र: 'हिन्दी साहित्य कोश', पृ. 940
- 90 नगेन्द्र (सं.): 'भारतीय साहित्य का समेकित इतिहास', हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय दिल्ली विश्वविद्यालय, संस्करण: 1989, पृ. 225

-
- 91 मोहम्मद, मलिक: 'आलवार भक्तों का तमिल-प्रबन्धम् और हिन्दी कृष्ण-काव्य',
विनोद पुस्तक मन्दिर, हॉस्पिटल रोड, आगरा, संस्करण: 1964, पृ. 167
- 92 वही, पृ. 167
- 93 वही, पृ. 167
- 94 वही, पृ. 167
- 95 द्विवेदी, हजारी प्रसाद: 'हिन्दी साहित्य की भूमिका', हिन्दी-ग्रन्थ रत्नाकर (प्राइवेट)
लिमिटेड, बम्बई-4, संस्करण: 1963, पृ. 55
- 96 श्यामसुन्दरदास (संपा.): 'कबीर ग्रंथावली', पृ. 2
- 97 वही, पृ. 2
- 98 वही, पृ. 2
- 99 वही, पृ. 1
- 100 वही, पृ. 1
- 101 वही, पृ. 2
- 102 वही, पृ. 14
- 103 वही, पृ. 14
- 104 वही, पृ. 23
- 105 वही, पृ. 23
- 106 वही, पृ. 54
- 107 तुलसीदास: 'विनय-पत्रिका', पृ. 219
- 108 वही, पृ. 190
- 109 वही, पृ. 190
- 110 बड़थवाल, पीताम्बरदत्त: 'हिन्दी काव्य में निर्गुण संप्रदाय', (मध्ययुगीन भारतीय
सन्तों के रहस्यवाद का एक अध्ययन), पृ. 255
- 111 चतुर्वेदी परशुराम: 'उत्तरी भारत की संत-परंपरा', भारती भंडार लीडर प्रेस,
इलाहाबाद, (संशोधित तथा परिवर्धित) तृतीय संस्करण: 1972 ई., पृ. 12-13
- 112 त्रिपाठी, मन्जु: 'कबीर एवं उनके समसामयिक निर्गुण-संतों की भक्ति पद्धति
एक तुलनात्मक विवेचन', नमन प्रकाशन नई दिल्ली-110002, प्रथम संस्करण: 2005,
पृ. 121
- 113 श्यामसुन्दरदास(सं.): 'कबीर ग्रंथावली', पृ. 246
- 114 मिश्र, बलदेव प्रसाद : 'तुलसी-दर्शन', पृ. 109
- 115 चतुर्वेदी, परशुराम: 'उत्तरी भारत की संत-परंपरा', पृ. 7
- 116 बड़थवाल, पीताम्बरदत्त: 'हिन्दी काव्य में निर्गुण संप्रदाय', (मध्ययुगीन भारतीय
सन्तों के रहस्यवाद का एक अध्ययन), पृ. 246-247
- 117 श्यामसुन्दरदास(सं.): 'कबीर ग्रंथावली', पृ. 255

-
- 118 वही, पृ. 49
- 119 द्विवेदी, हजारी प्रसाद: 'हिन्दी साहित्य की भूमिका', पृ. 39
- 120 शर्मा, रामविलास: परंपरा का मूल्यांकन', राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली, संस्करण : 1981 ई. पुनः मुद्रित: 1995-96, पृ. 90
- 121 दिनकर, रामधारी सिंह: 'संस्कृति के चार अध्याय', राजपाल एंड सन्स, दिल्ली, संस्करण: 1956 ई., पृ. 71-72
- 122 शुक्ल, रामचन्द्र: 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', नागरी प्रचारिणी सभा वाराणसी, संस्करण : सं. 2067 वि., पृ. 35
- 123 दिनकर, रामधारी सिंह: 'संस्कृति के चार अध्याय', राजपाल एंड सन्स, दिल्ली, संस्करण: 1956 ई., पृ. 92-93
- 124 त्रिगुणायत, गोविन्द: 'हिन्दी की निर्गुण काव्यधारा और उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि', पृ. 347
- 125 उपाध्याय, बलदेव: 'भारतीय-दर्शन', पृ. 459
- 126 प्रसाद, बैजनाथ: 'भक्ति आन्दोलन और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल', विशाल पब्लिकेशन, पटना, दिल्ली, द्वितीय संस्करण: 2010, पृ.1
- 127 आप्टे, वामन शिवराम: 'संस्कृत -हिन्दी कोश', पृ. 393
- 128 वही, पृ. 406
- 129 उपाध्याय, बलदेव: 'भारतीय-दर्शन', पृ. 476
- 130 वही, पृ. 482
- 131 आप्टे, वामन शिवराम: 'संस्कृत-हिन्दी कोश', पृ. 819
- 132 उपाध्याय, बलदेव: 'भारतीय-दर्शन', पृ. 475
- 133 त्रिगुणायत, गोविन्द: 'कबीर की विचारधारा', साहित्य-निकेतन कानपुर, संस्करण: सं. 2009, पृ. 229
- 134 श्यामसुन्दरदास(सं.): 'कबीर ग्रंथावली', पृ. 31
- 135 बड़थवाल, पीताम्बरदत्त: 'हिन्दी काव्य में निर्गुण संप्रदाय', (मध्ययुगीन भारतीय सन्तों के रहस्यवाद का एक अध्ययन), पृ. 172
- 136 वर्मा, रामकुमार: 'कबीर का रहस्यवाद', (कबीर के दार्शनिक विचारों का गंभीर विवेचन), पृ.34
- 137 द्विवेदी, हजारी प्रसाद: 'कबीर' हिन्दी-ग्रन्थ रत्नाकर (प्राइवेट) लिमिटेड, बम्बई-4, छठा संस्करण: मई 1960, पृ. 99
- 138 हिरण्मय: 'हिन्दी और कन्नड़ में भक्ति आन्दोलन का तुलनात्मक अध्ययन', विनोद पुस्तक मन्दिर, हॉस्पिटल रोड़, आगरा, संस्करण: 1959, पृ. 3
- 139 रूपगोस्वामी: 'श्री श्री भक्तिरसामृतसिन्धु', मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स प्राइवेट लिमिटेड दिल्ली, प्रथम संस्करण: 2003, पृ. 18

-
- 140 वही, पृ. 18
- 141 वेदव्यासः 'श्रीमद्भागवतमहापुराण (प्रथम खण्ड)', (स्कन्ध 1 से 8 तक), पृ. 380
- 142 वही, पृ. 380
- 143 वही, पृ. 381
- 144 वही, पृ. 381
- 145 नारद भक्ति सूत्र, पृ. 39
- 146 वही, पृ. 40
- 147 वही, पृ. 8
- 148 श्यामसुन्दरदास (सं.): 'कबीर ग्रंथावली', पृ. 281
- 149 नारद भक्ति सूत्र, पृ. 40
- 150 वही, पृ. 37-38
- 151 मिश्र, बलदेव प्रसादः 'तुलसी-दर्शन', पृ. 73
- 152 श्यामसुन्दरदास (संपा.): 'कबीर ग्रंथावली', पृ. 318
- 153 वही, पृ. 272
- 154 वही, पृ. 272
- 155 नारद भक्ति सूत्र, पृ. 36
- 156 रूपगोस्वामीः 'श्री श्री भक्तिरसामृतसिन्धु', पृ. 102
- 157 वेदव्यासः 'श्रीमद्भागवतमहापुराण(प्रथम खण्ड)', पृ. 381
- 158 वही, पृ. 381
- 159 शाण्डिल्य -भक्ति-सूत्रः गीताप्रेस, गोरखपुर, संस्करणः सं. 2068, पृ. 19
- 160 वही, पृ. 48
- 161 अहिर्बुध्न्यसंहिता (उत्तरार्धम्) (37/27,28), देवशिखामणिना रामानुजार्येण संशोधिता अडैयार् पुस्तकालय प्रधानपण्डितपदवीमधितस्थुषा श्रीमद्वालघन्विकुलावतंसेन तेनैव विरचितया काचित्कया विषमस्थलटिप्पण्या च सनाथीकृता,शकाब्दः1839। हौणब्दः1916। पृ. 370
- 162 महर्षि वेदव्यास-प्रणीतः 'श्री मद्भागवतमहापुराण', (प्रथम-खण्ड), पृ. 117-118 (1/8/41-42)
- 163 वही, पृ. 176 (1/19/16)
- 164 वही, पृ. 459 (द्वितीय-खण्ड) (10/51/56,57)
- 165 त्रिगुणायत, गोविन्द : 'कबीर की विचारधारा', पृ. 340
- 166 श्यामसुन्दरदास (संपा.): 'कबीर ग्रंथावली', पृ. 190
- 167 गुप्त, दीनदयालु : 'कबीर-दर्शन', हिन्दी विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, संस्करणः 1962, पृ. 362
- 168 त्रिगुणायत, गोविन्दः 'कबीर की विचारधारा', पृ. 341

- 169 श्यामसुन्दरदास (संपा.) : 'कबीर ग्रंथावली', पृ. 214
- 170 तुलसीदास: 'विनय-पत्रिका', पृ. 205 (पद-160)
- 171 वही, पृ. 137(पद संख्या-105)
- 172 वाजपेयी, नंददुलारे : 'सूरसागर'(पहला-खंड), नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, संस्करण: सं. 2015 वि., पृ. 112 (पद-340)
- 173 बाहरी, हरदेव : 'सूरसागर सटीक', प्रथम भाग, लोकभारती प्रकाशन, 15-ए, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद-1, संस्करण: 1974, पृ. 153-155
- 174 सिंह,उदयभानु: 'तुलसी-दर्शन-मीमांसा', लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ, संस्करण: सं. 2018 वि., पृ. 311-312
- 175 शर्मा,मुंशीराम: 'भक्ति का विकास' चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-1, संस्करण: 1958, पृ. 272
- 176 महर्षि वेदव्यास-प्रणीत: 'श्री मद्भागवतमहापुराण', (प्रथम-खण्ड), पृ. 394 (3/31/39)
- 177 वही, पृ. 571(4/31/9-12)
- 178 सिंह, उदयभानु: 'तुलसी-दर्शन-मीमांसा', पृ.-312
- 179 श्यामसुंदरदास (सं.): 'कबीर ग्रंथावली', पृ.-127
- 180 तुलसीदास: 'विनय-पत्रिका', पृ. 219-20
- 181 वाजपेयी, नंददुलारे: 'सूरसागर', पृ. 116 (पद-349)
- 182 वही, पृ. 112(पद-337)
- 183 महर्षि वेदव्यास-प्रणीत: 'श्री मद्भागवतमहापुराण', (प्रथम-खण्ड), पृ. 109(1/7/22)
- 184 वही, पृ. 114 (1/8/9)
- 185 वही, पृ. 295 (10/25/13)
- 186 त्रिगुणायत, गोविन्द: 'कबीर की विचारधारा', पृ. 342
- 187 श्यामसुंदरदास (सं.): 'कबीर ग्रंथावली', पृ. 124
- 188 सिंह, उदयभानु: 'तुलसी-दर्शन-मीमांसा', पृ. 313
- 189 तुलसीदास: 'विनय-पत्रिका', पृ. 281-282
- 190 वाजपेयी, नंददुलारे: 'सूरसागर', (पहला-खंड) पृ.-13 (पद-37)
- 191 बाहरी, हरदेव(सं.): 'सूरसागर सटीक'(प्रथम-भाग), पृ. 19
- 192 महर्षि वेदव्यास-प्रणीत: 'श्री मद्भागवतमहापुराण', (द्वितीय-खण्ड), गीताप्रेस, गोरखपुर, संस्करण: सं. 2071, पृ. 257(10/19/10)
- 193 महर्षि वेदव्यास-प्रणीत: 'श्री मद्भागवतमहापुराण', (प्रथम-खण्ड), पृ. 117 (1/8/37)
- 194 सिंह,उदयभानु : 'तुलसी-दर्शन-मीमांसा', पृ.-313
- 195 वाजपेयी, नंददुलारे : 'सूरसागर', (पहला खंड), पृ.-29 (पद-92)
- 196 बाहरी, हरदेव (सं.): 'सूरसागर सटीक', (प्रथम-भाग), पृ. 41 (पद-92)
- 197 तुलसीदास: 'विनय-पत्रिका', पृ. 125-126 (पद-93)

- 198 महर्षिवेदव्यास-प्रणीतः 'श्री मद्भागवतमहापुराण' (प्रथम-खण्ड), पृ. 122 (1/9/32)
- 199 मिश्र, विजय शंकरः 'विनय-पत्रिका में प्रपत्तिवाद', प्रेम प्रकाशन मंदिर 3012,
बल्ली मारान, दिल्ली-110006, संस्करण:1983, पृ.-73
- 200 वही, पृ.-74
- 201 तुलसीदासः 'विनय-पत्रिका', पृ. 330 (पद-269)
- 202 सिंह, उदयभानुः 'तुलसी-दर्शन-मीमांसा', पृ. 313-314
- 203 वाजपेयी, नंददुलारेः 'सूरसागर' (पहला-खंड), पृ. 55 (पद-170)
- 204 बाहरी, हरदेव(सं.): 'सूरसागर सटीक' (प्रथम-भाग), पृ. 79 (पद-170)
- 205 श्यामसुंदरदास (सं.): 'कबीर ग्रंथावली', पृ. 108
- 206 सिंह, उदयभानुः 'तुलसी-दर्शन-मीमांसा', पृ. 314
- 207 वही, पृ.-314
- 208 महर्षिवेदव्यास-प्रणीतः 'श्री मद्भागवतमहापुराण' (प्रथम-खण्ड), पृ. 858 (7/9/12)
- 209 वही, पृ. 784 (6/16/46)
- 210 तुलसीदासः 'विनय-पत्रिका', पृ. 210-211 (पद-166)
- 211 वाजपेयी, नंददुलारे : 'सूरसागर', (पहला-खंड), पृ. 52 (पद-157)
- 212 बाहरी, हरदेव (सं.): 'सूरसागर सटीक' (प्रथम भाग), पृ. 73 (पद-157)
- 213 वाजपेयी, नंददुलारे : 'सूरसागर', (पहला-खंड), पृ. 53 (पद-160)
- 214 बाहरी, हरदेव (सं.): 'सूरसागर सटीक' (प्रथम भाग), पृ. 75 (पद-160)
- 215 श्यामसुंदरदास (सं.): 'कबीर ग्रंथावली', पृ. 164 (पद-305)
- 216 सिंह, पुष्पपालः 'कबीर ग्रन्थावली सटीक', अशोक प्रकाशन नई सड़क, दिल्ली-6
संस्करण: 1962, पृ. 471-472, (पद-305)
- 217 मिश्र विजय शंकर : 'विनय-पत्रिका में प्रपत्तिवाद', पृ. 34
- 218 तुलसीदासः 'विनय-पत्रिका', पृ. 202-203(पद-158)
- 219 वाजपेयी, नंददुलारेः 'सूरसागर', (पहला-खंड) पृ. 42 (पद-126)
- 220 बाहरी, हरदेव (सं.): 'सूरसागर सटीक', (प्रथम-भाग), पृ. 50-51 (पद-126)
- 221 तुलसीदासः 'विनय-पत्रिका', पृ. 128 (पद-96)
- 222 श्यामसुंदरदास (सं.): 'कबीर ग्रंथावली', पृ. 152 (पद-263)
- 223 सिंह, पुष्पपालः 'कबीर ग्रन्थावली सटीक', पृ. 446, (पद-263)
- 224 तुलसीदासः 'विनय-पत्रिका', पृ. 236 (पद-189)
- 225 वाजपेयी, नंददुलारेः 'सूरसागर', (पहला-खंड), पृ. 31 (पद-97)
- 226 बाहरी, हरदेवः 'सूरसागर सटीक', (प्रथम-भाग), पृ. 37 (पद-97)
- 227 श्यामसुंदरदास (सं.): 'कबीर ग्रंथावली', पृ. 188-189 (पद-398)
- 228 सिंह, पुष्पपालः 'कबीर ग्रन्थावली सटीक', पृ. 526, (पद-398)

-
- 229 आप्टे, वामन शिवराम: 'संस्कृत-हिन्दी कोष (छात्र-संस्करण)', पृ. 732
- 230 तुलसीदास: 'विनय-पत्रिका', पृ. 122-123 (पद-90)
- 231 वाजपेयी, नंददुलारे: 'सूरसागर', (पहला-खंड), पृ. 110-111 (पद-335)
- 232 बाहरी, हरदेव (सं.): 'सूरसागर सटीक' (प्रथम-भाग), पृ. 133, (पद-335)
- 233 वाजपेयी, नंददुलारे: 'सूरसागर', (पहला-खंड), पृ. 109 (पद-330)
- 234 बाहरी, हरदेव (सं.): 'सूरसागर सटीक' (प्रथम-भाग), पृ. 131-132, (पद-330)
- 235 श्यामसुंदरदास (सं.): 'कबीर ग्रंथावली', पृ. 189-190 (पद-401)
- 236 सिंह, पुष्पपाल: 'कबीर ग्रन्थावली सटीक', पृ. 528 (पद-401)
- 237 तुलसीदास: 'विनय-पत्रिका', पृ. 176 (पद-137)
- 238 वाजपेयी, नंददुलारे : 'सूरसागर', (पहला-खंड), पृ. 31 (पद-98)
- 239 बाहरी, हरदेव: 'सूरसागर सटीक', (प्रथम-भाग), पृ. 37 (पद-98)
- 240 श्यामसुंदरदास (सं.) : 'कबीर ग्रंथावली', पृ. 163 (पद-301)
- 241 सिंह, पुष्पपाल: 'कबीर ग्रन्थावली सटीक', पृ. 469 (पद-301)
- 242 तुलसीदास: 'विनय-पत्रिका', पृ. 135(पद-103)
- 243 वाजपेयी, नंददुलारे : 'सूरसागर', (पहला-खंड), पृ. 56 (पद-171)
- 244 बाहरी, हरदेव: 'सूरसागर सटीक', (प्रथम-भाग), पृ. 67-68 (पद-171)
- 245 श्यामसुंदरदास (सं.) : 'कबीर ग्रंथावली', पृ. 181-182 (पद-372)
- 246 सिंह, पुष्पपाल: 'कबीर ग्रन्थावली सटीक', पृ. 511-512 (पद-372)
- 247 आप्टे, वामन शिवराम: 'संस्कृत-हिन्दी कोष (छात्र-संस्करण)', पृ. 929
- 248 तुलसीदास: 'विनय-पत्रिका', पृ. 142-143(पद-111)
- 249 वाजपेयी, नंददुलारे : 'सूरसागर', (पहला-खंड), पृ. 30-31 (पद-96)
- 250 बाहरी, हरदेव : 'सूरसागर सटीक', (प्रथम-भाग), पृ. 36-37 (पद-96)
- 251 श्यामसुंदरदास (सं.) : 'कबीर ग्रंथावली', पृ. 190 (पद-402)
- 252 सिंह, पुष्पपाल: 'कबीर ग्रन्थावली सटीक', पृ. 529 (पद-402)
- 253 तुलसीदास: 'राम चरित मानस', गीताप्रेस, गोरखपुर, संस्करण: सं. 2053, पृ. 5, चौपाई-4, (बाल काण्ड)